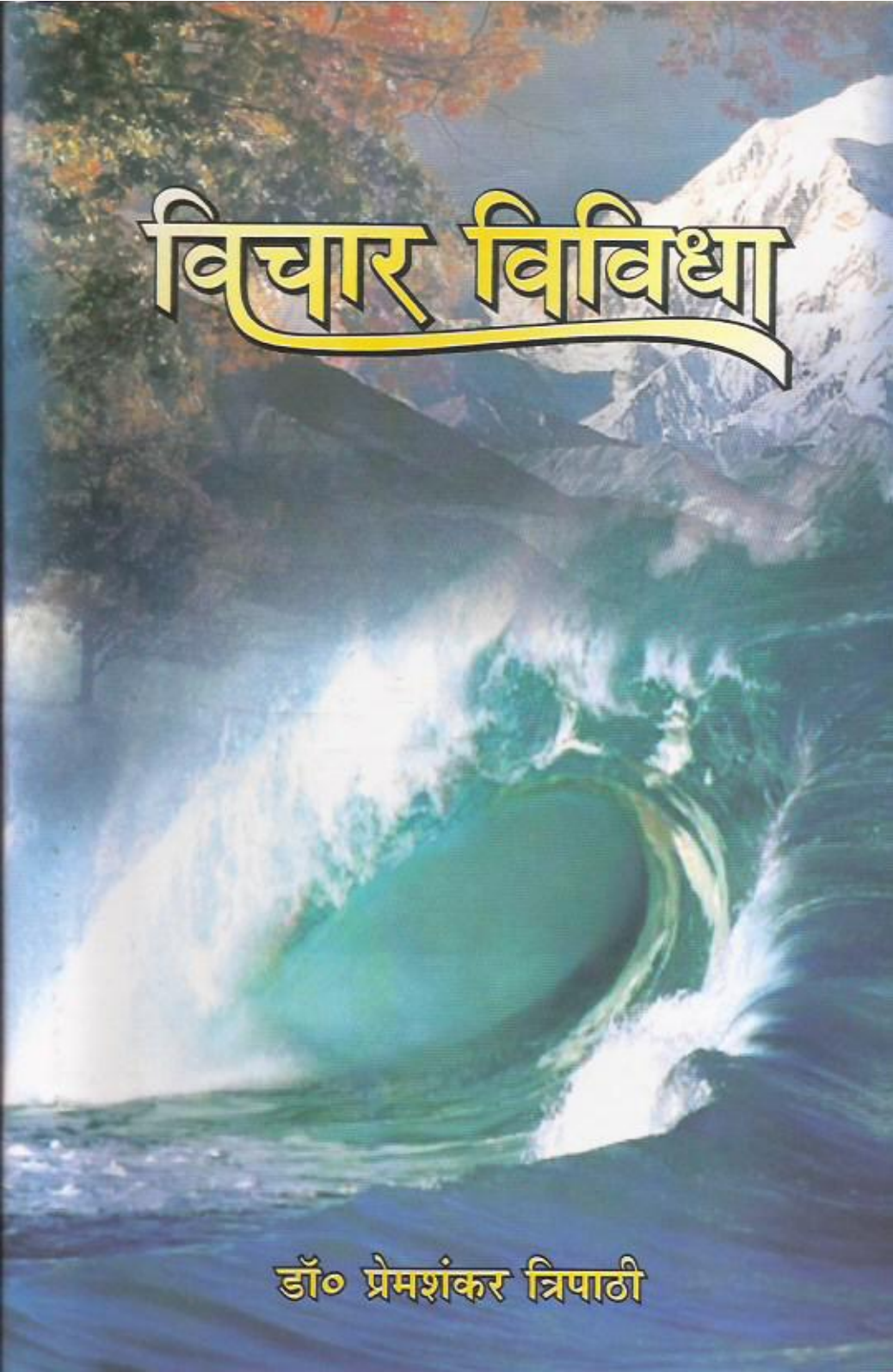
विचार विविधा
डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

विचार विविधा

विचार विविधा

(विविध विषयों पर साहित्यिक निबन्ध)

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

प्रकाशक
श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
१ सी, मदनमोहन बर्मन स्ट्रीट
कोलकाता - ७०० ००७

प्रकाशक :

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

१-सी, मदनमोहन बर्मन स्ट्रीट

कोलकाता-७०० ००७

टेलिफैक्स : २२६८ ८२१५

प्रथम संस्करण :

नवम्बर २००५

मूल्य : १२५ रुपए

मुद्रक :

संजय नोपानी

एस्केज़

८, शोभाराम बैशाख स्ट्रीट

कोलकाता-७

Vichar Vividha by *Dr. Prem Shanker Tripathi*

Price Rs. : 125/-

शुद्ध एवं समृद्ध भाषा के आग्रही
विद्यालयीय जीवन के हिन्दी अध्यापक
स्व० पं० ब्रह्मदत्त चतुर्वेदी
तथा
साहित्य सृजन हेतु प्रेरणा प्रदान करने वाले
कलकत्ता विश्वविद्यालय (हिन्दी विभाग) के प्राध्यापक
स्व० डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव
की पावन स्मृति में।

प्राक्कथन

विविध साहित्यिक एवं सामयिक विषयों पर व्यक्त विचारों का एकत्र संकलन है यह कृति। विभिन्न संदर्भों, अनुष्ठानों, गोष्ठियों एवं पत्र-पत्रिकाओं के लिए तैयार किए गए इन निबंधों का कालखंड लगभग २० वर्ष पूर्व से अब तक का है, अतः स्वाभाविक रूप से पाठकों को इसमें अभिव्यक्तिगत वैविध्य की प्रतीति होगी।

कवि एवं कविता पर विशेष अनुराग के कारण तद्विषयक आलेख इसमें अधिक हैं। मूर्द्धन्य कथाशिल्पी अमृतलाल नागर का उपन्यास साहित्य मेरे शोध का विषय रहा है; उन पर केन्द्रित आलेख उसी गतिशीलता के परिचायक हैं। इसी तरह सनेही जन्मशती पर कवि सम्राट सनेही पर, राहुल जन्मशताब्दी पर महापंडित राहुल सांकृत्यायन पर तथा कबीर षष्ठशती पर संत कबीर पर केन्द्रित आलेख पत्र-पत्रिकाओं एवं ग्रंथ संपादकों के दबाववश ही लिखे गए थे। कुछ रचनाएँ रेडियोवार्ता एवं दैनिक पत्रों के लिए रची गईं थीं।

परम श्रद्धेय गुरुवर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री (अब दिवंगत) की हार्दिक इच्छा थी कि मेरे ये बिखरे निबंध पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो जायँ। अतः 'विचार-विविधा' नामकरण के साथ इसके प्रकाशन की योजना तभी सुनिश्चित हो गई थी जब अगस्त २००३ में मेरी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास और अमृतलाल नागर' प्रकाश में आई थी। परन्तु कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा 'आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : अमृत महोत्सव अभिनंदन ग्रंथ' की वृहद् प्रकाशन योजना के अंतर्गत संपादकीय दायित्व के कारण यह कार्य विलंबित होता गया। दिसम्बर २००४ में अभिनंदन ग्रंथ के प्रकाशनोपरान्त ही फरवरी २००५ में इसे प्रेस में दिया जा सका। गुरुवर आचार्य शास्त्री के आकस्मिक देहावसान (१७ अप्रैल २००५) से उत्पन्न अन्यमनस्क मनःस्थिति के कारण पुनः यह कार्य शिथिल पड़ गया।

अब जब यह कृति प्रकाशित हो रही है दिवंगत गुरुवर की बार-बार याद आ रही है। भूमिका के रूप में उनकी 'शुभाशंसा' से पुस्तक भले ही वंचित है परन्तु आचार्य शास्त्री का आशीर्वाद सदा मेरे साथ है, इस बात की प्रतीति एवं अनुभूति से ही मुझे संतोष है। पुस्तक प्रकाशन के अवसर पर मैं प्रातःस्मरणीय गुरुवर आचार्य शास्त्री की स्मृति में श्रद्धापूरित प्रणाम निवेदित करता हूँ।

स्कूल जीवन के अध्यापक पं० ब्रह्मदत्त चतुर्वेदी द्वारा प्रदत्त भाषिक संस्कार ने बचपन से ही मेरे मन में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति अपार आदर-भाव भर दिया था। इसे परिपुष्ट किया कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के विद्वान प्राध्यापक डॉ० दयानंद श्रीवास्तव ने, जो अनवरत लिखने-पढ़ने के लिए मुझे प्रेरित करते रहते थे। दोनों दिवंगत गुरुओं की पावन स्मृति में यह कृति समर्पित करते हुए मुझे आत्म-तोष का अनुभव हो रहा है।

कुमारसभा पुस्तकालय के मार्गदर्शक श्री जुगलकिशोर जैथलिया तथा मंत्री श्री महावीर बजाज का दबाव यदि न होता तो इस पुस्तक के प्रकाशन में और विलंब होता। पुस्तकालय की साहित्यमंत्री डॉ० उषा द्विवेदी ने प्रूफ-संशोधन में पर्याप्त सहयोग दिया है। इन सभी के प्रति आंतरिक आभार प्रदर्शित करता हूँ।

जिन संपादकों, मित्रों, शुभचिंतकों के आग्रहवश इन निबंधों का सृजन हुआ उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन।

शुभ दीपावली
१ नवम्बर, २००५

प्रेमशंकर त्रिपाठी

अनुक्रम

संत कबीर की प्रासंगिकता /९

कबीर की अनुकरणीय सत्यनिष्ठा /१६

घुमक्कड़शास्त्री राहुल सांकृत्यायन /२३

राहुल विरचित कृति 'तुम्हारी क्षय' : एक समीक्षा /२८

कवि सम्राट गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' /३३

प्रखर गांधीवादी राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी /३९

हिन्दी साहित्य में असांप्रदायिक चेतना
की परम्परा और अमृतलाल नागर /४५

अमृतलाल नागर के निबंधों में सांप्रदायिक सद्भाव के स्वर /५२

आस्था का अखंड आलोक (श्रद्धांजलि : अमृतलाल नागर) /५७

धरती की सोंधी सुगंध : त्रिलोचन /६१

मानवीय संवेदना के गीतकार रमानाथ अवस्थी /६८

समय की त्रासदी के गीतकार रवीन्द्र भ्रमर /७५

ओजस्वी एवं तेजस्वी कवि शिव ओम अम्बर /८२

लोक का आलोक (संदर्भ : लोक साहित्य) /८९

कौन थे, क्या हो गए हैं.... (संदर्भ : शिक्षक दिवस) /९४

फागुन फिर महका है (संदर्भ : होली) /९९

प्रगति, प्रेम और प्रवाह के कवि : सुमन /१०४

कविता का भविष्य (कवियों की दृष्टि में कविता) /११५

अंधकार पर लगे विराम (संदर्भ : दीपावली) /१२४

•

संत कबीर की प्रासंगिकता

मध्ययुग के तिमिराच्छन्न परिवेश में ज्ञान की आभा विकीर्ण करनेवाले संत कबीर का सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कबीर का आविर्भाव जिस काल में हुआ था उस समय राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में अस्थिरता एवं अराजकता व्याप्त थी। इन विपरीत परिस्थितियों में प्रातिभ ऊर्जा से संपन्न क्रांतदर्शी साहित्यकार ही अपने सृजनात्मक दायित्व का पालन कर सकता था। कबीर ने अपनी साधना, तेजस्विता तथा कालजयी चेतना के बल पर मानव कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने दायित्व का बखूबी निर्वाह किया। अपनी सजग सामाजिक चेतना के कारण ही कबीर मध्यकाल के कवि होने के बावजूद प्रासंगिक हैं, हमारा मार्गदर्शन करने में सक्षम हैं।

प्राचीन हिन्दी कवियों में कबीर का स्थान अन्यतम है। उनमें जितनी मौलिकता है वैसी मौलिकता कम साहित्यकारों में है। परंपरा के प्रवाह में वे महत्त्वपूर्ण विकास-बिन्दु हैं। भारतीय संस्कृति, अध्यात्म तथा दर्शन के स्वस्थ सकारात्मक पक्षों को ग्रहण कर उसे नवीन उन्मेष प्रदान करने के कारण वे सबसे प्रभावित होते हुए भी सबसे अलग दिखाई पड़ते हैं। परम्परा से प्राप्त जीवन एवं दर्शन को उन्होंने जस का तस स्वीकार नहीं किया, उसमें उन्हें जो सत्य प्रतीत हुआ उसकी 'साखी' दी और जो असत्य लगा उसके प्रति 'अस्वीकार का साहस' दिखाया।

अपने बहुआयामी कृतित्व के कारण वे एक साथ संत, भक्त, कवि, साधक, दार्शनिक तथा समाज सुधारक लक्षित होते हैं। उनका आलोचक, व्यंग्यकार, मस्तमौला तथा अक्खड़-फक्कड़ रूप भी कम प्रभावशाली नहीं है। उनमें एक ओर साधक और भक्त की तन्मयता है तो दूसरी ओर समाज-सुधारक की उद्विग्नता और व्याकुलता भी।

कबीर ने सहज भाव से स्वीकार किया था *'मसि कागद छूयो नहीं कलम गही नहिं हाथ'*। वे ज्ञान के भार से बोझिल पांडित्य की अपेक्षा प्रेम को श्रेष्ठ मानते थे—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।।

उनका प्रेम संस्कारों की सीमाओं और वाह्याचारों के बंधन से परे है। व्रत,

उपवास, पूजा, तीर्थ, नमाज, मुहर्रम, हज से वह ऊपर है। शास्त्रज्ञान को कबीर समाज का सम्यक् मार्गदर्शन करने में अक्षम मानते थे। तभी तो उन्होंने शास्त्रोक्त पथ त्याग कर नवीन पंथ का संधान किया—

पंडित मुल्ला जो लिखि दिया, / छाँड़ि चले हम कछु न लिया।

उन्होंने शास्त्रज्ञान (कागद की लेखी) के स्थान पर अनुभव ज्ञान (आँखिन देखी) की महत्ता स्वीकार की। वे उलझे हुए पांडित्य के स्थान पर सुलझी हुई अनुभव-सिद्ध वाणी के पक्षधर थे—

मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी
मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यौ उरझाइ रे

कबीर के युग का भारतीय समाज कालुष्यमय था। हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही समुदाय के लोग अपने-अपने आचारों, सामाजिक, धार्मिक रीतिरिवाजों, उपासना विधियों और साधना पद्धतियों के बारे में दृढ़ एवं कट्टर थे। परस्पर विद्वेष एवं वैमनस्य के अराजक माहौल में कोई अपने को किसी से न्यून स्वीकार करने को राजी नहीं था। पाखंडों, वाह्याचारों, मिथ्याडंबरों के कारण सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक वैषम्य चरम सीमा पर था। ऐसे कठिन काल में कबीर सत्य की शक्ति के सहारे निर्भय होकर खरी-खरी बात कहने के लिए आगे आए। अपनी आक्रोशभरी वाणी में उन्होंने दोनों समुदाय के लोगों को फटकारा। अपने को किसी भी समुदाय से सम्पृक्त किए बिना व्यंग्य के तीखे प्रहारों से उन्होंने सबकी खबर ली।

कबीर ने यद्यपि इस्लाम धर्म को स्वीकार किया था तथापि वे धार्मिक कट्टरता, अंधविश्वास और आडंबर के घोर विरोधी थे। दोनों संप्रदाय के धर्म के ठेकेदारों के कुकृत्यों का पर्दाफाश करते हुए उन्होंने लिखा—

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई

साथ ही उन्होंने अपनी विराट मानवतावादी दृष्टि से यह भी प्रतिपादित किया कि *'सो हिन्दू सो मुसलमान, जाकर दुरुस रहे ईमान'*। कबीर की यह उक्ति समुदाय के संकीर्ण दायरे में विचरण करनेवाले मिथ्यामार्गगामियों को सही राह पर चलने का सत्परामर्श देती है। हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा मानवता की प्रतिष्ठा के लिए वे दोनों जातियों के जातिभेद को व्यर्थ बताते हुए कहते हैं—

भूला भरमि परै जिनि कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई।।

कबीर की स्पष्ट धारणा थी कि मानव मात्र की उत्पत्ति एक ही ज्योति से हुई है। सबमें एक ही ईश्वर व्याप्त है। एक विन्दु से निर्मित पंचतत्त्व युक्त मानव शरीर का

निर्माता जब एक ही ब्रह्म रूपी कुंभकार है तो जन्म के आधार पर भेदभाव कैसा? वे पूछते हैं—

जो तू बाँभन बँभनी जाया। आन बाट ह्वै काहे न आया
जो तू तुरक तुरकानी जाया। भीतर खतना क्यों न कराया

* * * * *

एक बूंद एकै मलमूतर, एक चाम एक गूदा।
एक ज्योति ते सब उतपन्ना को बाभन को सूदा।।

कबीर ने ईश्वर और खुदा को अभेद माना है। उनका सुचिंतित मत है कि राम-रहीम, केशव-करीम, काशी-काबा की एकता का साक्षात्कार सम्प्रदाय-बुद्धि से विकृत मस्तिष्क वाले लोग नहीं कर पाते। धर्म का वास्तविक समन्वय भाव ग्रहणकर सत्कर्म के पथ पर अग्रसर होते हुए भगवद्विश्वास की भित्ति पर सच्चा जीवनमूल्य सृजित किया जा सकता है। ऐसा होने पर ही काबा का काशी में और राम का रहीम में रूपान्तरण हो जाता है—

काबा फिरि कासी भया रामहि भया रहीम।
मोट चून मैदा भया बैठ कबीरा जीम।।

जीवन मूल्यों के निर्माण में भगवद्विश्वास (भक्ति) की भूमिका अन्यतम है। इस संबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत ध्यातव्य है— "कबीर ने रोग का ठीक निदान किया था या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध निर्वाचन में और अपथ्य वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिलकुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास।" आचार्य द्विवेदी के उपर्युक्त मत के समर्थन में ये पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

हरि जस सुनहिं, न हरि गुन गावहिं, बातन ही असमान गिरावहिं
ऐसे लोगन को का कहिए,
जो हरि किए भगति ते बाहेर, तिनते सदा डराने रहिए।

कबीर ने प्रभु की अनुरक्ति से विरत लंबी-चौड़ी बातें करनेवालों से दूर रहने की सलाह दी है। वे उनलोगों से डरने और बचने का भी परामर्श देते हैं जिनमें भक्ति तत्त्व का अभाव है। स्वयं कबीर में भक्ति का समर्पण भाव और दर्शन की गहरी संवेदना है।

'कबिरा कूता राम का मोतिया मेरा नाऊँ' और *'हरि मेरा पिउ मैं राम की बहुरिया'* जैसा भक्ति-भाव किसी समर्पित भक्त कवि की भक्ति-भावना से न्यून नहीं है। इसी प्रकार *'जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी'* और *'माया महा ठगिनी हम जानी'* की दार्शनिक पीठिका कबीर की व्यापक काव्य-साधना को संकेतित करती

है। परन्तु यह सही है कि कबीर की भक्ति का समर्पण भाव या उनका दार्शनिक रूप उनकी विक्षोभकारी मुद्रा में दब-सा गया है।

वास्तव में उनके सम्पूर्ण काव्य का मूल स्वर है छुआछूत, कर्मकाण्ड, मिथ्याचार, आडंबर और धार्मिक ढकोसलों का तीक्ष्ण विरोध। परंतु इस विरोध के तीखे तेवर तथा व्यंग्य के प्रहारों में जो मानवीय मूल्य स्थापित किए गए हैं, उनका गहरा अर्थ है। अतः कबीर की वाणी में केवल विद्रोह-विक्षोभ का साक्षात्कार ही नहीं करना चाहिए, दुर्दशाग्रस्त समाज के प्रति कवि की आंतरिक पीड़ा से तादात्म्य भी स्थापित करना चाहिए। कबीर की वेदना का अनुभव इन पंक्तियों में किया जा सकता है—

सुखिया सब संसार है खावै और सोवै
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवै

अहंकार का विसर्जन कर सत्य की खोज में निकले कबीर अपना घर जलाकर हाथ में लुकाठा लिए बाजार में खड़े थे। अपने साथ चलने वाले के घर को भी जला देने का उनका संकल्प था—

कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर जारै आपना चलै हमारे साथ।।

और यह भी—

हम घर जारा आपना लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारौं तासु का जो चलै हमारे साथ।।

बीच बाजार में खड़े होकर कबीर का यह उद्घोष आज की उस बाजार-प्रधान संस्कृति में विशेष लक्षितव्य है जहाँ सब कुछ क्रय-विक्रय की हानि-लाभपरक संस्कृति का अंग है। मूल्य-विपर्यय के इस जमाने में हाथ में लुकाठा धारण किए हुए जो क्रांति के तथाकथित मसीहा हैं वे घर फूंकने वाले भी हैं और अपने सहयात्री के साथ विश्वासघात करने वाले भी। कबीर आज की बाजारू संस्कृति में 'अनफिट' या 'मिसफिट' हैं। कबीर बाजार की, दुनिया की हालत सिर्फ राम झरोखे से नहीं देखते, वे उसकी विसंगतियों को रेखांकित कर हमें सचेत भी करते हैं। ठगिनी माया के मोह-जाल में आसक्त मानव समाज को कबीर ने बार-बार समझाया है—

'ई माया जग मोहिनी, मोहित सब जग झारि'

* * * * *

'माया महाठगिनी हम जानी'

* * * * *

'ठगिनी क्या नैना चमकावै'

* * * * *

'कहै कबीर सुनो भाई साधो इस ठगिनी से रहो हुशियार'

अशुद्ध अविद्याग्रस्त मन कबीर के इस परामर्श पर ध्यान नहीं देता। *'रमैया तोर दुलहिन लूटो बजार'* तथा *'कौन ठगवा नगरिया लूटल हो'* पंक्तियों को विस्मृत कर हम सब लुटे-पिटे से बाजार की मोहिनी के पाश में जकड़ते जा रहे हैं। ऐसे में बाजार के मध्य कबीर की उपस्थिति तथा प्राणिमात्र के लिए उनकी कल्याण-कामना का स्मरण स्वाभाविक है—

कबिरा खड़ा बजार में माँगे सबकी खैर।
ना काहू से दोस्ती ना काहू सो बैर।।

दोस्ती-दुश्मनी से परे निरपेक्ष विन्दु पर खड़े होकर अहंकाररहित मुद्रा में कबीर का यह कथन प्रभावकारी है। लोकमंगल के इसी धरातल पर कबीर ने अपनी कविता का सृजन किया था, जिसका सर्वथा अभाव परिलक्षित होता है आजकी राजनीतिक रंगभरी स्वार्थप्रेरित रचनाओं में। पीड़द सच्चाई है कि आज की कविता आत्मतुष्टि की खुशफहमी में अधिक जीवित है। उसका सामाजिक सरोकार कम होता जा रहा है। किशोर काबरा की पंक्तियाँ हैं—

कबीर ने लिखा बीजक बीजमंत्र की तरह।
तुम भी लिख रहे हो बीजक मगर षडयंत्र की तरह।।
कबीर की कविता तो सबका बेड़ा पार कर रही है।
पर तुम्हारी कविता तुम्हारा ही उपसंहार कर रही है।।

साम्प्रतिक परिवेश और जन-जीवन में कबीर की प्रासंगिकता अधिक अर्थवती प्रतीत हो रही है। असत्य, अनाचार एवं पाखंड पर कठोर प्रहार करने वाली उनकी रचनाएँ प्रेम, सद्भाव और भाईचारे का संदेश देती हैं। शिव ओम अंबर ने कबीर के प्रति आदर व्यक्त करते हुए लिखा है—

धर्मग्रन्थों को परे रख इक जुलाहे ने कहा
मात्र ढाई आखरों में उपनिषद् निःशेष है।
कहकहा बन जी रहे उस व्यक्ति को बाँचो कभी
वो अथाहे दर्द की दरगाह का दरवेश है। ●

कबीर की अनुकरणीय सत्यनिष्ठा

भारतीय समाज में व्यक्ति की श्रेष्ठता का निर्द्धारण किसी धर्म, मजहब, संप्रदाय या पंथ के साथ उसके जुड़ाव या संपृक्ति से नहीं अपितु उसके सदाचरण तथा सद्भाव द्वारा होता रहा है। चरित्रगत उच्चता तथा आचरणगत पवित्रता को समाज में सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। व्यक्ति की व्यापक सामाजिक प्रतिष्ठा सत्य, दया, प्रेम, त्याग, करुणा आदि गुणों के कारण ही होती रही है। घृणित कर्मों में लीन तथाकथित उच्चकुलीन व्यक्ति को भी समाज में निन्दनीय दृष्टि से देखा जाता रहा है। कबीर का दोहा है—

ऊँचे कुल का जनमिया करनी ऊँच न होय।
स्वर्ण कलश मदिरा भरा साधू निंदै सोय।।

कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व ने एक ओर समाज के दुर्गुणों पर कठोर प्रहार किया तो दूसरी ओर सद्वृत्तियों का प्रचार कर समाज सुधारक की सृजनात्मक भूमिका का निर्वाह किया। मस्तमौला, अक्खड़ तथा फक्कड़ होने के साथ-साथ उनमें आचारनिष्ठ साधु तथा कर्तव्यपरायण व्यक्ति के गुणों का समावेश था। असत्य का उग्र विरोध तथा सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा उनके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग थी।

कबीरदास के चर्चित पद 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' की अंतिम पंक्ति है *'दास कबीर जतन ते ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया'*। चादर बेदाग रहे इसलिए 'जतन' की आवश्यकता है। किसी कवि की पंक्तियाँ हैं—

नहीं थी कबीर की चादर में कहीं कोई गाँठ,
खुले थे चारों छोर,
फिर भी संध्या-भोर,
टटोलती रही भक्तों की भीड़, कि होगा कहीं अनमोल रतन
नहीं तो बाबा काहे को करते इतना जतन।

वास्तव में 'अनमोल रतन' वे मानवीय मूल्य हैं जो व्यक्ति और समाज के बहुविध उन्नयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं तथा जिनका अभाव मानव-समाज को विश्रृंखलित एवं विघटित कर देता है। कबीर ने एक दोहे में इस अनमोल रत्न की चर्चा की है—

कबीर दरिया प्रजल्या, दाझौं जल थल छोल।
बस नाहीं गोपाल सूँ, बिनसै रतन अमोल।।

सीधा अर्थ है कि जब समुद्र वाड़वाग्नि से प्रज्ज्वलित होता है तब जल, थल, वृक्ष आदि दग्ध हो जाते हैं, अमूल्य रत्न विनष्ट हो जाते हैं। यहाँ दरिया यानी समुद्र का प्रयोग मनुष्य के मन के लिए और अग्नि का प्रयोग बैर भावना के लिए किया गया है। जल-स्थल आदि संपर्क में आनेवाले मनोभाव हैं तथा अमूल्य रत्न मनुष्य के गुण हैं। तात्पर्य है कि दूषित वृत्तियाँ मानव के गुणों को नष्ट कर देती हैं।

मूल्यहीनता के जिस परिवेश में कबीर ने जन्म लिया था, उस काल की सर्वाधिक आवश्यकता थी मूल्यों की पुनर्स्थापना तथा यत्नपूर्वक उनकी साज-सँभाल। संत कबीर ने इन्हीं मूल्यों का सहारा लेकर अपने समय के धार्मिक पाखण्ड और सामाजिक अंधविश्वास को ध्वस्त करने के लिए विक्षोभ भरी वाणी से दुर्वृत्तियों पर प्रहार किया। उन्होंने चरित्र की शुद्धता, आचरण की पवित्रता, कर्त्तव्यपरायणता तथा सत्यनिष्ठा पर बल देकर एक ओर समाज के विघटित मूल्य-बोध को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया तो दूसरी ओर धार्मिक मूल्यों को व्यापक मानवीय आधार प्रदान कर मानव-धर्म की प्रतिष्ठा की।

डॉ० रघुवंश लिखते हैं "उनके मन में मनुष्य की परिकल्पना व्यापक मूल्यों के आधार पर है और इस अखंड विश्वास के सहारे साहस के साथ उन्होंने समस्त धार्मिक विधि-विधान को अस्वीकार कर मनुष्य को सहज मूल्यों पर प्रतिष्ठित किया। यह वह मानव मिलन की भूमिका है जिसकी प्रतिष्ठा के लिए कवि को जाति, कुल, धर्म-मत, संस्कार, संप्रदाय, विश्वास तथा शास्त्र आदि के भ्रमजाल को छिन्न करना पड़ा।" (कबीर एक नई दृष्टि : पृष्ठ-१०९)

कबीर ने जीवन में सत्य को महत्ता को दृढ़ता से स्वीकार किया है। उनकी स्पष्ट अवधारणा है कि सत्य को पहचाने बिना जीवन का मार्ग प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु कबीर का यह सत्य केवल ऊपरी चमक-दमक, वेश-भूषा से नहीं पाया जा सकता, इसके लिए गंभीर निष्ठा की जरूरत है। उनकी रचनाओं में सत्य का प्रयोग जीवन मूल्य के रूप में तो है ही, कहीं-कहीं परमसत्ता और सुख के लिए भी है। उन्होंने 'हमन गुरु नाम सांचा है' कहकर गुरु को भी परमात्मा की तरह सत्यस्वरूप स्वीकार किया है। सत्यस्वरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए कबीर के सतगुरु ने जो 'जुगति लखाई' है उसका सार इन पंक्तियों में है—

दया राखि धरम को पालै जग सो रहे उदासी।
अपना सा जिव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी।।

सहै कुशब्द बाद को त्यागै, छाँड़ै गर्व-गुमाना।
सत्त नाम ताही को मिलिहै, कहै कबीर सुजाना।।

कबीर संसार के मिथ्या प्रपंचों से दूर रहकर ईश्वर की ओर उन्मुख होने का परामर्श देते हैं : *'झूठी काया झूठी माया आखिर मौत निदान/कब सुमिरोगे राम'।*

'झूठा आल-जँजाल तजि पकड़ा साँच कबीर' पंक्ति का रचनाकार इस बात से चिंतित है कि मनुष्य सब कुछ जानते हुए भी, सोने की भाँति बेशकीमती सच को छोड़कर काँच (मायादि) के खोखले आकर्षण में आसक्त है—

कबीर लज्जा लोक की, सुमिरै नाहीं साँच।
जानि बूझि कंचन तजै, काठा पकड़ै काँच।।

झूठे को झूठा मिलै, दूणां बधै सनेह।
झूठे कूँ साचा मिलै, तब ही टूटै नेह।।

माया, मोह तथा मिथ्यात्व के फंदे में जकड़े मानव को सच्चे गुरु की प्राप्ति से ही मुक्ति मिल सकती है। सौभाग्य से कबीर दास को ऐसा सद्गुरु प्राप्त हो गया था। तभी तो उन्होंने सत्य-स्वरूप प्रभु की भक्ति में अपने को अर्पित कर दिया था। सत्य के प्रति इस अनुराग के कारण ही वे सांसारिक अभिशाप और काल के भय से मुक्त हो गए थे। उन्होंने इस बात की पुष्टि इन दोहों में की है—

साँचे स्राप न लागई, साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिले, साँचे मांहि समाय।।

झूठी बात नहिं बोलिये, जब लगि पार बसाय।
अहो कबीरा साँच गहु, आवागमन नसाय।।

सत्याश्रयी व्यक्ति को किसी प्रचार या प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती। उसके अंतःकरण में विराजमान सत्य की प्रतीति सर्वज्ञ या सुजान को स्वतः ही हो जाती है—

तेरे अंदर साँच जो बाहर कछु न जनाव।
जाननहारा जानिहै, अंतरगति का भाव।।

सत्यनिष्ठ एवं सदाचारी व्यक्ति अध्यात्म की ऊँचाइयों को उपलब्ध कर सकता है। संत कबीर ईश्वर के प्रति सच्चा आचरण तथा दूसरों के प्रति शुद्ध भाव को अधिक महत्त्व देते हैं, उनका स्पष्ट निर्देश है—

साँई सेती साँच चलि, औरनि सूँ सुध भाई।
भावै लाँबै केस रखि, भावै घुरड़ि मुड़ाइ।।

कबीर के लिए सबसे बड़ी तपस्या है सत्य। वे मानते हैं कि सत्यवादी के हृदय

में ईश्वर का निवास होता है—

सांच बरोबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है ताके हिरदै आप।।

सच एवं झूठ के अंतर को इतनी सहजता से व्यक्त करने वाले कबीर तो सत्यवादी पर सबकुछ निछावर कर देने को उद्यत थे—

प्रेम-प्रीति का चोलना पहिरि कबीरा नाच।
तन-मन तापर वारिहौं जो कोई बोलै साँच।।

प्रेम के ढाई आखर का पाठ सिखाने वाले सत्याश्रयी कबीर की रामजी से प्रार्थना है कि वे झूठे व्यक्ति का साथ उन्हें स्वप्न में भी न दें—

जानि बूझि साँची तजै, करै झूठ सों नेहु।
ताकी संगति रामजी, सपनेहूँ जनि देहु।।

सत्य के प्रति यही निष्ठा ईमान को दृढ़ करती है— *सो हिन्दू सो मुसलमान/ जाको दुरुस रहे ईमान।* इसके लिए कठिन तपस्या या साधना की आवश्यकता नहीं है, केवल साध लेना है अपने मन और इन्द्रियों को। लेकिन मन है बड़ा विचित्र। वह सब कुछ जानते हुए भी अवगुणों में प्रवृत्त होता है—

मन जानै सब बात, जान बूझि औगुन करै।
काहे की कुसलात कर दीपक कूँवौ परै।

सत्य और ईमान के प्रति दृढ़ रहने वाले व्यक्ति की कथनी-करनी में भेद नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को ईश्वर की कृपा सहज ही प्राप्त हो जाती है—

जैसी मुख तें नीकसै, तैसी चालै चाल।
पार ब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करै निहाल।

सांसारिक विषय वासनाओं के मिथ्या जंजाल में फँसे मनुष्य को सचेत कर कबीर ईश्वर यानी सत्य की सत्ता से साक्षात्कार कराना चाहते हैं। वे समझाते हैं *'झूठे सों प्रीति लगाइ कर, साचे कूं भूले'।*

तैत्तिरीयोपनिषद् में ऋषि ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा था— "सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायात् मा प्रमदः" अर्थात् सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो तथा स्वाध्याय में कभी आलस्य न करो। कबीर ने वैदिक ऋषि की इसी वाणी को, अपने समय की परिस्थिति का आकलन कर, दृढ़ता से दुहराया था।

उनकी वाणी में दृढ़ता तथा तेजस्विता का समावेश इसलिए हो सका था क्योंकि उनमें अखंड आत्मविश्वास था। इसी के बल पर वे शास्त्रज्ञ पंडितों तथा ब्राह्मण वर्ग को चुनौती भी दे सके थे— *'तू बाह्मन मैं कासी का जोलहा बूझहु मोर गियाना'।*

कबीरदास के सत्यानुराग को रेखांकित करते हुए जिन कवियों ने उनके प्रति

अपनी श्रद्धा प्रकट की है— उनमें भगत पीपा, दुलाराम, दीन दरवेश तथा दादूदयाल प्रमुख हैं। भगत पीपा ने 'नाम कबीर साच परकास्या' कहा है तो दुलाराम का विचार है—'परहितकारी संत थे साहेब सत्य कबीर'। दीन दरवेश ने 'कहत दीन दरवेश सत्त का शब्द सुनाया' लिखा तो दादूदयाल ने उनकी सत्यनिष्ठा की प्रशस्ति में एक दोहे की रचना की—

साँचा शब्द कबीर का, मीठा लागे मोय।
दादू सुनता परम सुख, केता आनँद होय।।

संत कबीर की सत्य के प्रति गहरी सम्पृक्ति का प्रभाव महात्मा गाँधी पर भी पड़ा था। 'गाँधी और कबीर' शीर्षक अपने आलेख में डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने लिखा है— "कबीर की ही भाँति उनके (गाँधीजी के) लिए सत्य ही एकमात्र परमात्मा है। सत्य की स्वानुभूति के प्रकाश में ही वे जगत् की सब बातों को देखना चाहते हैं। उनके लिए कार्याकार्य का वही एक मानदण्ड है। अपने प्रत्येक कार्य के लिए वे उसी की अनुज्ञा चाहते हैं। उसी के भीतरी शब्द की ओर वे हमेशा अपने कान लगाए रहे हैं और उसी के आदेश के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करते हैं। फिर चाहे ऐसा करने में सारी दुनिया के विरुद्ध जाना पड़े। इसी अभिप्राय से कबीर अपने को 'सत्यनाम का उपासक' और गाँधी अपने जीवन को 'सत्य के प्रयोग' कहते हैं।"

'साँच ही कहत औ साँच ही गहत हौं' का उद्घोष करने वाले कबीर इस बात के आग्रही थे कि सच्चाई चाहे अनुभव से अर्जित की गई हो या परंपरा से प्राप्त हुई हो, उसकी जाँच आवश्यक है। मानव मात्र की कल्याण कामना ही उनकी कसौटी थी जिस पर वे सत्य की परख करते थे। इस संदर्भ में विजयदेव नारायण साही की कबीर केन्द्रित कविता 'प्रार्थना गुरु कबीरदास के लिए' विशेष रूप से उल्लेख्य है—

परम गुरु/ दो तो ऐसी विनम्रता दो
कि अंतहीन सहानुभूति की वाणी बोल सकूँ
और यह अंतहीन सहानुभूति/पाखंड न लगे।
दो तो ऐसी निरीहता दो/ कि इस दहाड़ते आतंक के बीच
फटकार कर सच बोल सकूँ
और इसकी चिन्ता न हो/ कि इस युद्ध में
मेरे सच का इस्तेमाल कौन अपने पक्ष में करेगा।।

कबीर का स्वर इतना आत्मीय और प्रेरक रहा है कि वह अनेक परवर्ती कवियों की रचनाशीलता का अंग बन गया है। निराला, नागार्जुन, धूमिल आदि रचनाकारों की विविध रचनाओं में कबीर की मुद्रा का अनुभव किया जा सकता है।

कबीर ने सत्य के भाव वाले जिस सद्भाव का संदेश दिया है आज हम उसके मूल अर्थ से विमुख होकर मिथ्या की भित्ति पर सद्भाव फैलाने का उपक्रम कर रहे हैं। इसीलिए सब कुछ अप्रभावी और निरर्थक सा लगता है। इसमें हमारा दोष तो है ही, संसार की प्रकृति भी ऐसी है जो सत्य के प्रति वितृष्ण और मिथ्यात्व के प्रति आग्रही है। प्रस्तुत हैं कबीर विरचित कुछ पंक्तियाँ—

साँच कहूँ तो मारिहै, झूठे जग पतियाइ।
यह जग काली कूकरी, जो छेड़े तो खाइ।।

साँचे कोइ न पसीजई, झूठे जग पतियाय।
गली-गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय।।

संतो देखहु जग बौराना।
साँच कहूँ तो मारन धावै झूठे जग पतियाना।।

साँच कहौं तो सब जग खीझै झूठ कहा ना जाई।
कहहिं कबीर तेई भौ दुखिया जिन यह राह चलाई।।

एक अन्य पद में विस्तार से इसका विवेचन है—

ऐसा तोरा झूठा मीठा लागा / तार्थै साचे सू मन भागा
झूठे के घर झूठा आया, झूठा खान पकाया।
झूठी सहनक, झूठा बाह्या, झूटै झूठा खाया।।
झूठा ऊठण, झूठा बैठण, झूठी सवै सगाई।
झूठे के रंगि झूठा राता, साचे को न पत्याई।।
कहे कबीर अलह का पंगुरा सांचे सू मन लावौ।
झूठे केरी संगति त्यागौ, मन बांछित फल पावौ।।

जो स्थिति कबीर के जमाने में थी आज भी वैसी ही है। सांप्रतिक स्थिति का आकलन कवि बिजय निर्बाध के शब्दों में—

सच सूली पर चढ़ा हुआ है झूठ गले का हार हो गया
बात फ़र्ज़ की क्या कहते हो अब सबकुछ अधिकार हो गया।

कविवर डॉ० चंद्रदेव सिंह ने इस पीड़ा को वाणी देते हुए विस्तार से इसकी चर्चा की है और आज की विडंबना को रेखांकित किया है—

सच मत कहो कान दुखता है
क्या पूरी बस्ती में सच का कहीं एक भी घर दिखता है?
सच है मात्र शब्द प्रवचन का; कुंठा का कटुता का व्रण का।
शासन और समाज वहिष्कृत सच केवल साधन ज्ञापन का।

दिन को भी जब दिन कहने में जीभ काँपती स्वर रुकता है ।। सच मत०
सच का उच्चारण पारायण, मिथ्या ही अनवरत आचरण।
सच तो विवश, विकृत, निर्वासित मिथ्या का अभिनव अभिनंदन।
सुविधा, सुख, समृद्धि सभी का सर छल के आगे झुकता है
सच मत कहो कान दुखता है।

आज सत्यवादी पीड़ित-प्रताड़ित है। मिथ्याचारी सम्मानित हो रहा है। कबीर ने अपने गुरु रामानंद से भक्ति, योग, निर्भीकता आदि के साथ सदाचरण भी प्राप्त किया था। उन्होंने गुरु के विचारों का सार ग्रहण किया—

सत गुरु तत कह्यो विचार/मूल गहो अनभै विस्तार

'सार - सार को गहि रह्यौ थोथा देउ उड़ाइ' के रचनाकार ने सत्य को जीवन के साररूप में स्वीकार किया था क्योंकि वे जानते थे कि हृदय की सच्चाई से हर प्रकार का लेन-देन सहज है, उलझन तो झूठे हिसाब किताब में है। ईश्वर के दरबार में सत्यनिष्ठ व्यक्ति के लिए कोई असुविधा नहीं है। कोई उसका पल्ला पकड़ने वाला नहीं हैं—

लेना देना सोहरा जे दिल साँचा होय।
उस चंगे दीवान में पला न पकड़े कोय।।

कबीर ने छुआछूत, कर्मकाण्ड, मिथ्याचार, आडंबर और ढकोसलों का तीखे तेवर और व्यंग्य के प्रहारों के साथ तीक्ष्ण विरोध करते हुए जो मानवीय मूल्य स्थापित किए उनकी गहरी अर्थवत्ता तथा उपादेयता को समझ कर हम आज की विसंगतियों से समाज को मुक्त कर सकते हैं। 'मसि कागद' को न छूकर भी उस संत कवि ने हमें जो दिशा और दृष्टि प्रदान की है उसका उपयोग करते हुए हम भक्ति, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, सत्य, समानता, एकता, सौहार्द्र आदि की स्थापना कर मानवता की तस्वीर को सुघर बना सकते हैं।

अंततः कह सकते हैं कि कबीर झूठ के मुल्क में सत्य के राजदूत थे। वे घटाटोप अंधकार के बीच प्रकाश पुंज थे। कलकत्ते के प्रसिद्ध शायर एज़ाज अफ़ज़ल ने इसी भाव की पंक्तियों के साथ कबीर के प्रति श्रद्धा ज्ञापित की है—

झूठ की अक़लीम[1] में सच का सफ़ीर[2]
तीरगी[3] के अहद[4] में रौशन ज़मीर[5]
प्यार की बानी कभी मरती नहीं
आज भी ज़ेहनों[6] में ज़िंदा है कबीर। ●

---

१. अक़लीम=मुल्क २. सफ़ीर=राजदूत ३. तीरगी=अंधकार ४. अहद=ज़माना ५. ज़मीर=अंतरात्मा ६. ज़ेहनो=मस्तिष्क।

घुमक्कड़शास्त्री राहुल सांकृत्यायन

बहुआयामी कृतित्व वाले महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इतिहास, दर्शन, धर्म, भाषाशास्त्र, विज्ञान, राजनीति आदि विविध विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं तथा बहुमूल्य कृतियों का सृजन किया है। उनके कहानीकार, आलोचक, निबन्धकार, नाटककार, आत्मकथा लेखक तथा जीवनीकार रूप ने हिन्दी साहित्य को विशिष्ट समृद्धि प्रदान की है। ९ अप्रैल १८९३ को एक कट्टर वैष्णव परिवार में जन्मे राहुल ने पहले आर्य समाज और फिर बौद्ध धर्म के रास्ते से गुजरते हुए मार्क्सवाद की मंजिल तय की थी। एक साहित्यकार या लेखक के रूप में ही नहीं, विचारक और चिन्तक के रूप में भी उनकी व्यापक प्रतिष्ठा रही है। सामाजिक या राजनीतिक कार्यकर्त्ता की हैसियत से विविध गतिविधियों के संचालन एवं क्रियान्वयन में रुचिपूर्वक भाग लेने के साथ-साथ उन्होंने गंभीर शोधकर्त्ता के दायित्व का भी भलीभाँति निर्वाह किया था। चाहे असहयोग आंदोलन या किसान आन्दोलन में जनता के साथ सक्रिय भागीदारी हो या बौद्ध-दर्शन और बौद्ध साहित्य के अनुद्घाटित अंशों की अनुसंधानपरक व्याख्या—दोनों भिन्न क्षेत्रों में राहुल के सहज एवम् पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व की झलक पाई जा सकती है।

वास्तव में राहुल के सम्पूर्ण साहित्य में जो तन्मयता है, गांभीर्य है उसका कारण उनका व्यापक जीवनानुभव है; भ्रमण के दौरान जीवन की बहुरंगी छटाओं तथा विरूपताओं का साक्षात्कार है। 'आँखिन देखी' पर भरोसा करने के कारण ही उनका साहित्य प्रभविष्णुता-संपन्न है।

घुमक्कड़ी पर केन्द्रित तथा १९४८ में प्रकाशित १६८ पृष्ठों वाली कृति 'घुमक्कड़ शास्त्र' की भूमिका में राहुल ने लिखा है— "घुमक्कड़ी का अंकुर पैदा करना इस शास्त्र का काम नहीं, बल्कि जन्मजात अंकुरों की पुष्टि, परिवर्धन तथा मार्ग प्रदर्शन इस ग्रंथ का लक्ष्य है। यद्यपि लेखक ने इस कृति में यह दावा नहीं किया है कि घुमक्कड़ों के लिए उपयोगी सभी बातें सूक्ष्म रूप से यहाँ (कृति में) आ गई हैं, तथापि जिन शीर्षकों में कृति को विभाजित किया गया है वे भ्रमण के महत्त्व के साथ-साथ घुमक्कड़ी से संबंधित विविध आयामों का विस्तृत विवेचन करते हैं। पुस्तक का पहला निबन्ध है 'अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा'। निबन्ध की शुरुआत में लेखक ने शीर्षक की संस्कृतनिष्ठ

भाषा का कारण बताते हुए लिखा है— "आखिर हम शास्त्र लिखने जा रहे हैं, फिर शास्त्र की परिपाटी को तो मानना ही पड़ेगा।" 'जिज्ञासा' के बारे में वे कहते हैं— "शास्त्रों में जिज्ञासा ऐसी चीज के लिए होनी बतलाई गई है जो कि श्रेष्ठ तथा व्यक्ति और समाज के लिए परम हितकारी हो।" इसी क्रम में लेखक ने ब्रह्म को जिज्ञासा का विषय बनाने के लिए व्यास का उल्लेख किया है और यह घोषणा की है कि— "मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता।"

राहुलजी ने दुनिया को गतिशील बनाने तथा विकास के रास्ते प्रशस्त करने का श्रेय घुमक्कड़ी को ही दिया है। 'घुमक्कड़-शास्त्र' के तीसरे पृष्ठ में वे लिखते हैं— "कोलम्बस और वास्को द गामा दो घुमक्कड़ ही थे जिन्होंने पश्चिमी देशों के बढ़ने का रास्ता खोला।" घुमक्कड़ धर्म की आवश्यकता का बखान करते हुए उन्होंने लिखा है— "जिस जाति या देश ने इस धर्म को अपनाया, वह चारों फलों का भागी हुआ और जिसने इसे दुराया, उसके लिए नरक में भी ठिकाना नहीं। आखिर घुमक्कड़ धर्म को भूलने के कारण ही हम सात शताब्दियों तक धक्का खाते रहे, ऐरे-गैरे जो भी आये, हमें चार लात लगाते गये।"

अपने कथ्य के विवेचन में लेखक ने शैली को अत्यंत रोचक तथा भाषा को सहज बनाए रखा है। राहुल की मान्यता है कि दुनिया के अधिकांश धर्मनायक घुमक्कड़ रहे हैं। बुद्ध को सर्वश्रेष्ठ घुमक्कड़ घोषित करते हुए राहुल ने बताया है कि बुद्ध ने सिर्फ पुरुषों के लिए ही नहीं स्त्रियों के लिए भी घुमक्कड़ी का उपदेश दिया था। राहुल लिखते हैं— "घुमक्कड़ धर्म, ब्राह्मण धर्म जैसा संकुचित धर्म नहीं है, जिसमें स्त्रियों के लिए स्थान न हो। स्त्रियाँ इसमें उतना ही अधिकार रखती हैं, जितना पुरुष।" उनके अनुसार शंकराचार्य को देश की चारों दिशाओं की यात्रा ने ही —घुमक्कड़ी धर्म ने ही बड़ा बनाया। इसी प्रकार रामानन्द, चैतन्य, ईसा, गुरुनानक, दयानन्द आदि भी इसी धर्म के बल-बूते पर महान् हुए हैं। इसीलिए राहुल ने घुमक्कड़ धर्म को संसार का 'अनादि सनातन धर्म' कहा है और उसे 'आकाश की तरह महान् और समुद्र की तरह विशाल' माना है। उनकी धारणा है कि "घुमक्कड़ी के लिए चिन्ताहीन होना आवश्यक है और चिन्ताहीन होने के लिए घुमक्कड़ी आवश्यक है। दोनों का अन्योन्याश्रय होना दूषण नहीं भूषण है।" इसी लेख में वे स्पष्ट करते हैं कि घुमक्कड़ धर्म की 'दीक्षा वही ले सकता है, जिसमें बहुत भारी मात्रा में हर तरह का साहस हो।' लेख का समापन करते हुए वे इस्माइल मेरठी की दो पंक्तियों का हवाला देते हैं—

सैर कर दुनिया की गाफिल जिंदगानी फिर कहाँ
जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ

अपनी पाठ्यपुस्तक में पढ़े हुए इस शेर ने राहुल को बचपन से ही यात्रा की ओर उन्मुख कर दिया था। घूमने-फिरने में व्यापक रुचि का कारण नाना-नानी के यहाँ लालन-पालन भी माना जा सकता है। सेना में सिपाही के रूप में उनके नाना ने दक्षिण भारत का व्यापक भ्रमण किया था। अवकाश ग्रहण के बाद नाती केदार (राहुल) को नाना के मुख से अतीत के रोचक यात्रा-वृत्तान्तों को सुनने का अवसर प्राप्त हुआ।

घर छोड़कर यात्रा के प्रति आकृष्ट होने का एक बड़ा कारण था अल्पावस्था में उनका बेमेल विवाह। अपनी आयु से ५ वर्ष बड़ी पत्नी को पाकर वे अन्यमनस्क होकर उमरपुर के बाबा परमहंस के पास बैठने लगे। बाबाजी ने राहुल को संसार भ्रमण का परामर्श दिया। इन सभी बातों ने मिलकर केदार को घुमक्कड़ बना दिया।

भ्रमण के प्रति इस आकर्षण ने राहुल को जीवन और जगत के व्यापक अनुभव की जानकारी दी। इसे उलटकर यों भी कह सकते हैं कि जीवन और जगत के बारे में अपनी जिज्ञासा के कारण ही उन्होंने घुमक्कड़ी वृत्ति अपनायी। जो भी हो इस रुझान ने जिन ग्रन्थों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया, वे हैं— मेरी लद्दाख यात्रा, लंका, तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी यूरोप यात्रा, मेरी तिब्बत यात्रा, यात्रा के पन्ने, जापान, ईरान, रूस में पच्चीस मास, घुमक्कड़ शास्त्र, एशिया के दुर्गम खण्डों में। इन कृतियों को यात्रा साहित्य के अंतर्गत परिगणित किया जाता है।

जीवनी साहित्य के अंतर्गत उनकी निम्नलिखित पुस्तकें रखी जा सकती हैं— मेरी जीवन यात्रा (१, २) सरदार पृथिवी सिंह, नये भारत के नये नेता, राजस्थानी रनिवास, बचपन की स्मृतियां, अतीत से वर्तमान, स्टालिन, कार्ल मार्क्स, लेनिन, माओत्से-तुंग, घुमक्कड़ स्वामी, असहयोग के मेरे साथी, जिनका मैं कृतज्ञ, वीर चंदसिंह गढ़वाली।

यात्रा और भ्रमण से संबंधित अन्य कृतियाँ हैं— सोवियत भूमि (१, २), सोवियत मध्य एशिया, किन्नर देश, दार्जिलिंग परिचय, कुमाऊँ, गढ़वाल, नेपाल, हिमाचल-प्रदेश, जौनसार-देहरादून, आजमगढ़-पुरातत्व।

राहुलजी ने घुमक्कड़ी के मार्ग में धन-संपत्ति की अपेक्षा बल-बुद्धि की महत्ता पर बल दिया है— "घुमक्कड़ को जेब पर नहीं अपनी बुद्धि, बाहु और साहस पर भरोसा रखना चाहिए।" (घुमक्कड़ शास्त्र, पृष्ठ २५) परन्तु इसी कृति में लेखक ने घुमक्कड़ी को हल्के रूप से ग्रहण करने वालों को सचेत करते हुए उनके दायित्व को भी रेखांकित किया है— "घुमक्कड़ को समाज पर भार बनकर नहीं रहना है। उसे आशा होगी कि समाज और विश्व के हरेक देश के लोग उसकी सहायता करेंगे लेकिन उसका काम आराम से भिखमंगी करना नहीं है। उसे दुनिया से जितना लेना है, उससे

सौ गुना अधिक देना है। जो इस दृष्टि से घर छोड़ता है वही सफल और यशस्वी घुमक्कड़ बन सकता है।"

घुमक्कड़ी के लिए उपयुक्त आयु और अनिवार्य शैक्षणिक योग्यता का विवेचन करते हुए राहुलजी ने अपने अनुभव से यह बताया है कि, "जिस व्यक्ति में महान घुमक्कड़ का अंकुर है, उसे चाहे कुछ साल भटकना ही पड़े, किन्तु किसी आयु में भी निकलकर वह रास्ता बना लेगा। इसलिए मैं अधीर तरुणों के रास्ते में रुकावट डालना नहीं चाहता। लेकिन ४० साल की घुमक्कड़ी के तजर्बे ने मुझे बतलाया है कि यदि तैयारी के समय को थोड़ा पहले ही बढ़ा दिया जाय तो आदमी आगे बड़े लाभ में रहता है।" (घुमक्कड़शास्त्र, पृ ३०)

लेखक ने घुमक्कड़ के लिए इतिहास और भूगोल-ज्ञान की अनिवार्यता की ओर तो संकेत किया ही है, भाषाओं और जलवायु की जानकारी को भी आवश्यक बताया है। उन्होंने लिखा है कि घुमक्कड़ का यात्रा साधनों की सुविधा के प्रति आग्रही होना अयोग्यता है। उसे तो पीठ पर सामान लादकर चलने का जीवट रखना चाहिए और बैलगाड़ी-खच्चर से लेकर हवाई जहाज तक की यात्रा पर अवलंबित रहना चाहिए। उसका शरीर 'कष्टक्षम' ही नहीं 'परिश्रमक्षम' भी होना चाहिए। स्वावलंबन पर बल देते हुए राहुल लिखते हैं— "घुमक्कड़ में और गुणों के अतिरिक्त स्वावलंबन की मात्रा अधिक होनी चाहिए। सोने और चांदी के कटोरों के साथ पैदा हुआ व्यक्ति घुमक्कड़ की परीक्षा में बिलकुल अनुत्तीर्ण हो जाएगा, यदि उसने अपने सोने-चांदी के भरोसे घुमक्कड़चर्या करनी चाही। वस्तुतः संपत्ति और धन घुमक्कड़ी के मार्ग में बाधक हो सकते हैं।..... केवल उतना ही पैसा पाकेट में लेकर घूमना चाहिए, जिसमें भीख मांगने की नौबत न आये और साथ ही भव्य होटलों और पाठशालाओं में रहने को स्थान न मिल सके। इसका अर्थ यह है कि भिन्न-भिन्न वर्ग में उत्पन्न घुमक्कड़ों को एक साधारण तल पर आना चाहिए।" (घुमक्कड़शास्त्र, पृष्ठ-३९) इसी पृष्ठ पर वे लिखते हैं कि घुमक्कड़धर्म की यह भी विशेषता है कि वह 'किसी जात-पाँत को नहीं मानता, न किसी धर्म या वर्ण के आधार पर अवस्थित वर्ग ही को।'

राहुल के इस निष्कर्ष में उनके वैचारिक रुझान का स्पष्ट आभास मिलता है। साम्यवाद का गहराई से अध्ययन, मनन एवं अवलंबन ग्रहण करने वाले राहुल ने घुमक्कड़ी में भी पूँजीवादी प्रवृत्ति का घोर विरोध किया है— "सोने-चाँदी के बल पर बढ़िया से बढ़िया होटलों में ठहरने, बढ़िया से बढ़िया विमानों की सैर करनेवालों को घुमक्कड़ कहना उस महान् शब्द के प्रति भारी अन्याय करना है। इसलिए यह समझने में कठिनाई नहीं हो सकती कि सोने के कटोरे को मुंह में लिये पैदा होना घुमक्कड़ के

लिए तारीफ की बात नहीं है। यह ऐसी बाधा है, जिसको हटाने में काफी परिश्रम की आवश्यकता होती है।" (घुमक्कड़ शास्त्र, पृष्ठ-३९)

लेखक ने इस वृत्ति के लिए आत्मसम्मान को महत्त्वपूर्ण माना है तथा चापलूसी की निन्दा की है। उनका विचार है— 'वस्तुतः घुमक्कड़ को अपने आचरण और स्वभाव को ऐसा बनाना है, जिससे वह दुनिया में किसी को अपने से ऊपर न समझे, लेकिन साथ ही किसी को नीचा भी न समझे। समदर्शिता घुमक्कड़ का एकमात्र दृष्टिकोण है, आत्मीयता उसके हरेक बर्ताव का सार है।' (घुमक्कड़ शास्त्र, पृष्ठ-४०)

राहुल ने घुमक्कड़ी को साधन और साध्य दोनों माना है। उनके अनुसार— "अभी तक लोग घुमक्कड़ी को साधन मानते थे, और साध्य मानते थे मुक्ति— देवदर्शन को; लेकिन घुमक्कड़ी केवल साधन नहीं, वह साथ ही साध्य भी है।" (पृष्ठ-१५४) लेखक ने ग्रंथ के समापन में यह आशा व्यक्त की है कि अधिक अनुभव और क्षमता वाले विचारक अपनी समर्थ लेखनी से निर्दोष ग्रंथ की रचना कर सकेंगे।

इस निबंध के आरंभ में कहा गया है कि यात्रा के प्रति आकर्षण ने ही राहुल के कृतित्व को बहुआयामी बनाया है, इसके समर्थन में 'घुमक्कड़शास्त्र' की इन पंक्तियों का हवाला दिया जा सकता है— "यात्राओं के लेखक दूसरी वस्तुओं के लिखने में भी कृतकार्य हो सकते हैं। यात्रा में तो कहानियाँ बीच में ऐसे ही आती रहती हैं, जिनके स्वाभाविक वर्णन से घुमक्कड़ कहानी लिखने की कला और शैली को हस्तगत कर सकता है। यात्रा में चाहे प्रथम पुरुष में लिखें या अन्य पुरुष में, घुमक्कड़ तो उसमें शामिल ही है। इसलिए घुमक्कड़ उपन्यास की ओर भी बढ़ने की अपनी क्षमता को पहचान सकता है, और पहले के लेखन का अभ्यास इसमें सहायक हो सकता है।" (पृष्ठ १४१) इस उद्धरण से यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि राहुल का कहानीकार या उपन्यासकार रूप इसीलिए इतना महत्त्वपूर्ण है। इस संदर्भ में पृष्ठ १४४ की इन पंक्तियों का भी उल्लेख किया जा सकता है— "घुमक्कड़ी लेखक और कलाकार के लिए धर्म-विजय का प्रयाण है, वह कला-विजय का प्रयाण है और साहित्य-विजय का भी। वस्तुतः घुमक्कड़ी को साधारण बात नहीं समझनी चाहिए, यह सत्य की खोज के लिए, कला के निर्माण के लिए, सद्भावनाओं के प्रसार के लिए महान् दिग्विजय है।"

तभी तो घुमक्कड़स्वामी, घुमक्कड़शास्त्री राहुल का तरुण-तरुणियों को परामर्श है— "दुनिया में मनुष्य-जन्म एक ही बार होता है और जवानी भी केवल एक ही बार आती है। साहसी और मनस्वी तरुण-तरुणियों को इस अवसर को हाथ से नहीं खोना चाहिए। कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ो! संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।" ●

सामाजिक विसंगतियों पर कोप

राहुल सांकृत्यायन विरचित लगभग १५० पुस्तकों में ५० पृष्ठों की एक क्षीणकाय कृति है 'तुम्हारी क्षय'। परन्तु आकार या पृष्ठ से सीमित होने पर भी यह पुस्तक एक अनुभवी समाजचेता, साहित्यकार के प्रबुद्ध, प्रखर और प्रौढ़ चिन्तन से ओतप्रोत है।

मूल रूप से घुमक्कड़ी वृत्ति के राहुल ने अपने व्यापक जीवनानुभव से समाज के विविध दोषों का निकट से अवलोकन किया था और उनके निवारणार्थ अपने बहुमूल्य सुझाव दिए थे। वे एक ओर अपनी सांस्कृतिक विरासत की हिफाजत और उसके सम्यक् विकास के लिए व्यग्र थे तो दूसरी ओर सुन्दर समाज की रचना के लिए प्रगतिशील शक्तियों का सदुपयोग करना चाहते थे। कहा जा सकता है कि सुदृढ़, शोषणहीन और रूढ़िमुक्त नवीन समाज की संरचना राहुल के जीवन का स्वप्न था। परन्तु इस स्वप्न के साकार होने में जो बाधायें उन्हें दिखाई दे रहीं थीं उनका समूल नाश अत्यावश्यक था। तभी तो वे समाज, धर्म, भगवान, सदाचार आदि के नाम पर चलनेवाली दुष्प्रवृत्तियों के साथ जात-पांत और जोकों (पूँजीपति शोषकों) के सम्पूर्ण क्षय की पूर्ण कामना करने को विवश होते हैं।

छपरा जेल में लिखित इस पुस्तक का प्रकाशन १९३७ में हुआ था। कृति की विषय-सूची में जो ६ शीर्षक रखे गये हैं, वे हैं— तुम्हारे समाज की क्षय, तुम्हारे धर्म की क्षय, तुम्हारे भगवान की क्षय, तुम्हारे सदाचार की क्षय, तुम्हारी जात-पाँत की क्षय और तुम्हारी जोकों की क्षय।

'दो शब्द' में राहुल ने लिखा है— " 'तुम्हारी क्षय' के रूप में मैंने अपने कुछ भावों को व्यक्त किया है। वस्तुतः ये भाव और भी कड़े शब्दों का आग्रह रखते थे, किन्तु कुछ तो उतने कड़े शब्दों को तुरन्त प्राप्त करना मुश्किल था, और कुछ यह भी ख्याल बाधक हुआ कि पुस्तक को पाठकों के पास तक पहुँचाना है।"

कृति के अध्ययन से पता चलता है कि एक ओर सामाजिक वैषम्य, शोषण एवं अंधविश्वास के प्रति लेखक के मन में उग्र आक्रोश था तो दूसरी ओर साधारण जनता, विशेषतः मजदूरों - श्रमिकों, किसानों तथा समाज के सर्वहारा वर्ग के प्रति उसकी विशेष सहानुभूति थी।

प्रथम निबंध 'तुम्हारे समाज की क्षय' में किसानों के प्रति श्रद्धा ज्ञापित करते हुए वह कहता है— "किसान वास्तविक धन का उत्पादक है क्योंकि वह मिट्टी को गेहूँ, चावल, कपास के रूप में परिणत करता है। दो घंटे रात रहते खेतों में पहुँचता है। जेठ की तपती दुपहरी हो या माघ पूस के सबेरे की हड्डी छेदने वाली सर्दी, वह हल जोतता है, ढेले फोड़ता है, उसका बदन पसीने से तर-बतर हो जाता है, उसके एक एक हाथ में सात सात घट्टे पड़ जाते हैं, फावड़ा चलाते चलाते उसकी साँस टँग जाती है, लेकिन तब भी वह उसी तरह मशक्कत किये जाता है क्योंकि उसको मालूम है कि धरती माता के यहाँ रिश्वत नहीं चल सकती। यह अकिंचन मिट्टी सोने के गेहूँ, रूपे के चावल और अंगूरी मोतियों के रूप में तब परिणत होती है जब धरती माता देख लेती है कि किसान ने उनके लिए अपने खून के कितने घड़े पसीने दिये, कितनी बार थकावट के मारे उसका बदन चूर चूर हो गया और कुदाल अनायास उसके हाथ से गिर गई।"

किसान की ऐसी कड़ी मेहनत का फल धरती माता तो जी खोलकर दे देती है पर समाज उसे क्या देता है? अन्न उगानेवाले किसान के महीनों से भूखे बच्चों के स्थान पर इस अन्न के "खाने के अधिकारी सबसे पहले वे स्त्री पुरुष हैं जिनके हाथों में एक भी घट्टा नहीं है, जिनके हाथ गुलाब जैसे लाल और मक्खन जैसे कोमल हैं; जिनकी जेठ की दुपहरियाँ खस की टट्टियों, बिजली के पंखों या शिमला और नैनीताल में बीतती हैं।"

यही स्थिति मजदूर की भी है। वह श्रमिक जो अपनी जवानी धूल में मिला देता है, अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश कर देता है— समाज में भूखे-नंगे रहने और पग-पग अपमानित होने के लिए विवश है। तभी तो समाज पर राहुल का कोप इन शब्दों में व्यक्त होता है; "करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को इस प्रकार कलुषित, पीड़ित और कंटकाकीर्ण बनाकर क्या वह (समाज) अपनी नर-पिशाचता का परिचय नहीं देता? ऐसे समाज के लिए हमारे दिल में क्या इज्जत हो सकती है, क्या सहानुभूति हो सकती है? बाहर से धर्म का ढोंग, सदाचार का अभिनय, ज्ञान विज्ञान का तमाशा किया जाता है और भीतर से यह जघन्य कुत्सित कर्म! धिक्कार है ऐसे समाज को!! सर्वनाश हो ऐसे समाज का!!!"

समाज को इस प्रकार शापित करने का प्रमुख कारण समाज के दुहरे मानदंड हैं। इसी निबंध में राहुल की स्पष्टोक्ति है; "इस पाखंडी, धूर्त, बेईमान, जालिम, नृशंस समाज को पेट्रोल डालकर जला देना चाहिए।"

दूसरे निबंध 'तुम्हारे धर्म की क्षय' में साम्प्रदायिक दंगों के प्रति राहुल ने अपनी चिंता व्यक्त करते हुए लिखा है— "सभी धर्म दया का दावा करते हैं लेकिन हिन्दुस्तान के इन धार्मिक झगड़ों को देखिए, तो आपको मालूम होगा कि यहाँ मनुष्यता पनाह माँग

रही है। निहत्थे बूढ़े और बूढ़ियाँ ही नहीं, छोटे-छोटे बच्चे तक मार डाले जाते हैं।"

इस लेख में लेखक ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों के जात-पाँत के बन्धनों के प्रति अपने तीखे विचार प्रकट किए हैं। उनका स्पष्ट निर्णय है— "जो धर्म भाई को बेगाना बनाता है, ऐसे धर्म को धिक्कार! जो मजहब अपने नाम पर भाई का खून करने के लिए प्रेरित करता है, उस मजहब पर लानत।"

तीसरे निबंध 'तुम्हारे भगवान की क्षय' में लेखक ने ईश्वर के प्रति अपने जो विचार प्रकट किए हैं वे पूरी तरह से कतई स्वीकार नहीं किए जा सकते। उदाहरणार्थ— 'अब कुछ बूढ़ों को छोड़कर यह (ईश्वर का) ख्याल किसी को नहीं सताता। यह निश्चय है कि आज के बूढ़ों के मर जाने पर ईश्वर का नाम लेवा वहाँ कोई नहीं रह जायेगा।'

"दरअसल ईश्वर का ख्याल है भी तो अंधकार की उपज"

"अज्ञान का दूसरा नाम ही ईश्वर है। हम अपने अज्ञान को साफ स्वीकार करने में शर्माते हैं, अतः उसके लिए संभ्रान्त नाम 'ईश्वर' ढूँढ़ निकाला गया है। ईश्वर-विश्वास का दूसरा कारण मनुष्य की असमर्थता और बेबसी है।"

ये उद्धरण राहुल की वैचारिक प्रतिबद्धता का प्रमाण अवश्य देते हैं परन्तु ये किसी प्रभाव की सृष्टि नहीं कर पाते। इस निबंध के अंतर्गत जो प्रसंग संजोए गए हैं वे कपोल कल्पित ही लगते हैं। लेख में राहुल ने ईश्वर की अवधारणा पर कई प्रश्न उठाए हैं लेकिन उसका निराकरण करने के लिए उन्होंने जिन तर्कों का सहारा लिया है वे अति सामान्य और हास्यास्पद हैं।

लेखक ने कुछ सवालों के जो उत्तर इकट्ठे किये हैं, उनका सार है— "ईश्वर हमें सरदर्द, पेटदर्द आदि तकलीफें देता है। किसी के इकलौते बेटे को मारकर उसे दुःख देता है। असंख्य कीड़े-मकोड़ों को तड़प-तड़प कर मरने के लिए विवश करता है।" राहुल का निष्कर्ष है— "इन्साफ तो उसमें छू नहीं गया, बल्कि उसके इस कर्म से तो यही पता लगता है कि उससे बढ़कर जालिम और पाषाण-हृदय दुनिया में और कहीं नहीं मिल सकता।"

निबंध के ये प्रसंग किसी गंभीर विवेचना के अभाव में हल्के हो गए हैं। इन दो निबंधों में राहुल ने यदि सधी हुई दृष्टि का परिचय देकर अपने विचार प्रकट किए होते तो संभव है ये निबंध पाठकों के मन को कुछ हद तक अवश्य आंदोलित करते।

'तुम्हारे सदाचार की क्षय' निबंध को लेखक ने 'व्यभिचार' 'मद्यपान' 'असत्य' 'चोरी, रिश्वत' 'तुम्हारे न्याय की क्षय' 'तुम्हारे इतिहासाभिमान और संस्कृति की क्षय' जैसे उपशीर्षकों में विभाजित किया है। लेख के आरंभ में ही राहुलजी ने एक प्रश्न

उठाया है "श्रेष्ठ किसे कहते हैं? क्या श्रेष्ठ की कोटि में उस गरीब की गिनती हो सकती है जो ईमानदारी से की गई अपनी कमाई को खाने का हक न रखकर दाने-दाने को मुहताज है?"

ये पंक्तियाँ वंचित वर्ग के प्रति लेखकीय सहानुभूति को प्रकट करती हैं। सदाचार के मामले में लेखक ने स्त्री-पुरुष के लिए अलग-अलग मानदंडों की कठोर भर्त्सना की है। उसकी यह धारणा सही है कि "सदाचार में जो जितना ही पतित है, वह उतना ही अधिक सुन्दर लच्छेदार शब्दों में उस पर व्याख्यान दे सकता है।"

अपने व्यापक जीवनानुभव से राहुल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि— "हमारे समाज ने ढोंग, आत्मवंचना को जितना ही अधिक आश्रय दिया है, उतना ही हरेक व्यक्ति अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करने में असमर्थ है, समाज का हर एक व्यक्ति अपने लिए तो नहीं चाहता, लेकिन दूसरे को जैसे हो तैसे धोखा देकर अपना काम बनाना चाहता है। किसी का किसी के ऊपर पूरी तरह से विश्वास नहीं, इसका परिणाम हो रहा है— स्त्री-पुरुष को वंचित करना चाहती है और पुरुष स्त्री को; पिता पुत्र को धोखा देना चाहता है और पुत्र पिता को। आखिर इस प्रकार की वंचना, अराजकता का जिम्मेवार कौन है? हमारा समाज।"

इतिहास और संस्कृति के बारे में भी लेखक के विचार उसकी साम्यवादी चिन्ताधारा के अधिक करीब हैं। वे कहते हैं— "इतिहास हमारे समाज की पुरानी बेड़ियों को मजबूत करता है। इतिहास हमारी मानसिक स्वतंत्रता का सबसे बड़ा शत्रु है। इतिहास हमारी पुरानी दुश्मनी और अनबनों को ताजा करता रहता है। सहस्राब्दियों से मनुष्यता का घोर शत्रु सिद्ध हुआ धर्म बहुत कुछ इतिहास के आधार पर टिका है।"

राहुल दो टूक शब्दों में कहते हैं कि अपने को सभ्य और सुसंस्कृत कहना अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना है। इसके विपरीत "हमारे जीवन का हरेक अंग जिस तरह कलुषित और दिखावट से भरा हुआ है, उस तरह की जाति दुनिया में शायद ही कोई हो। अभी तक तो हमने आदमी की तरह रहना भी नहीं सीखा।"

"सारांश यह है कि जिस अपने इतिहास और संस्कृति का अभिमान हम करते हैं वह हमें साधारण मनुष्य जैसा जीवन भी बिताने देना नहीं चाहती।"

राहुल की मान्यता है कि जात-पाँत के भेदभाव के कारण ही हम हिन्दुस्थानी विदेशियों के द्वारा पद दलित हुए। यह जाति-भेद हमें टुकड़े-टुकड़े में बाँट रहा है और सबके मन मे ऊँच-नीच का भाव उत्पन्न कर रहा है। दुःख की बात यह है कि हमारे नेता उसको बढ़ावा दे रहे हैं। राष्ट्रीय एकता की ठोस नींव जातियों के बीच खाई को पाटकर ही रखी जा सकती है। वे कहते हैं— "हिन्दुस्तानी जाति एक है। सारे

हिन्दुस्तानी, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, बौद्ध हों या ईसाई, मजहब के मानने वाले हों या लामजहब ; उनकी एक जाति है—हिन्दुस्तानी, भारतीय।"

निबंध का समापन करते हुए राहुल ने धर्म के नाम पर कट्टरता मिटाने के लिए अपने विचार यों प्रकट किए हैं— "नई सन्तानों के लिए तो अच्छा होगा कि हिन्दुओं की औलाद अपने नाम मुसलमानी रक्खे; और मुसलमानों की औलाद—अपने नाम हिन्दू रक्खें, साथ ही मजहबों की जबर्दस्त मुखालफत की जाय। सूरत-शकल के बनावटी भेद को भी मिटा दिया जाय। इस प्रकार मजहब के दीवानों को हम अच्छी तालीम दे सकते हैं।"

लेखक का यह सुझाव भी विवाद से परे नहीं है परन्तु इस बात को आज सभी स्वीकार करते हैं कि 'जात-पाँत की क्षय' से ही हमारे देश का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

पूँजीपति शोषकों को लेखक ने जोकों के रूप में कल्पित कर, 'तुम्हारे जोकों की क्षय' निबन्ध का आरंभ करते हुए लिखा है— "जोंकें? — जो अपनी परवरिश के लिए धरती पर मेहनत का सहारा नहीं लेतीं। वे दूसरों के अर्जित खून पर गुजर करती हैं। मानुषी जोंकें पाशविक जोंकों से ज्यादा भयंकर होती हैं।" इस निबंध में राहुल ने सारी दुनिया में पूँजीवाद के विकास का इतिहास बताते हुए 'इन जोंकों की रक्त पिपासा के नंगे नाच' का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। विकल्प के रूप में साम्यवाद को उपस्थित करते हुए लेखक ने कार्लमार्क्स के महत्त्वपूर्ण विचारों को भी उपस्थित किया है। पूँजीवाद के ध्वंस की कामना करते हुए राहुल कहते हैं "इसके बिना संसार का कल्याण नहीं। जोंकों! तुम्हारी क्षय हो!!"

अंततः कह सकते हैं कि 'तुम्हारी क्षय' कृति एक प्रखर साम्यवादी चिन्तक के प्रगतिशील विचारों का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है। निबंधों में व्यक्त विचारों से स्थान-स्थान पर कहीं आंशिक और कहीं पूर्ण असहमति हो सकती है, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि राहुल के ये विचार समाज की दूषित, गर्हित पद्धति के खिलाफ व्यग्र साहित्यकार के तेजस्वी एवं तीखे तेवर का सहज अहसास कराने में सक्षम हैं।

लगभग ४ दशक पूर्व लिखे गये ये निबंध आज भी प्रासंगिक हैं और तब तक प्रासंगिक बने रहेंगे जबतक अंधविश्वास, जड़ता और कुरीतियों से मुक्त नवीन समाज का उदय नहीं हो जाता। ●

कविसम्राट गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

भारतेन्दु के पश्चात् खड़ी बोली कविता को एक दिशा दी थी पं० श्रीधर पाठक ने, उसे वैचारिक आधार प्रदान किया था आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने परन्तु उसे सरस स्वरूप में प्रस्तुत करने का श्रेय है आचार्य गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' को। आधुनिक हिन्दी कविता में खड़ी बोली की प्राण-प्रतिष्ठा करने में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। वे द्विवेदी युग के काव्य निर्माताओं में अग्रणी रहे हैं।

सनेही जी ने आचार्यत्व ओढ़ा नहीं था, वे सच्चे अर्थों में आचार्य रहे हैं। उन्होंने कवियों की एक पूरी पीढ़ी का सृजन किया जिसे 'सनेही स्कूल' या 'सनेही मंडल' के नाम से जाना जाता है। सनेहीजी ने कवियों का उचित मार्गदर्शन कर उन्हें कवि-कर्म की शिक्षा प्रदान की, नव-युवकों को काव्य में दीक्षित कर उनके संगठनों के साथ कवि सम्मेलनों की अध्यक्षता की, हिन्दी कविता की धाक जमाकर उसके सामर्थ्य को प्रमाणित किया। उनके 'सुकवि' नामक कविता-प्रधान पत्र ने कवि प्रतिभाओं की खोज में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। सनेही जी १९२८ से १९५१ तक इस पत्र के सम्पादक रहे हैं तथा इसी पत्र के माध्यम से हितैषी, अनूप शर्मा, हृदयेश, प्रणयेश, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० जगदीश गुप्त, श्याम नारायण पाण्डेय जैसे शीर्षस्थ कवि हिन्दी साहित्य को उपलब्ध हुए।

उनके अवदान पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण टिप्पणी है कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर' की—द्य "कवि तैयार करने के सनेहीजी के साधन तीन थे। जो कवि उनके सम्पर्क में थे, उनकी कविताओं का वे संशोधन करते थे। जो कवि दूर थे, उनका भी मार्गदर्शन करते थे; यानी उनकी कविताओं को सुधार-सँवार कर उन्हें 'सुकवि' में छापा करते थे। तीसरा उपाय यह था— कानपुर में कवि गोष्ठियाँ वे बराबर करते रहते थे और युवकों को प्रोत्साहन देकर उन्हें काव्य के मार्ग पर आगे बढ़ाते थे। यही कारण हुआ कि सनेहीजी का ध्यान अपने काव्य संग्रहों की संख्या बढ़ाने की ओर नहीं गया। उनके जितने शिष्य हुए, वे ही उनकी रचनाओं के प्रतीक थे। संग्रहों के भीतर से नहीं जीकर सनेहीजी ने अपने शिष्यों के भीतर से जीने का रास्ता पसन्द किया था।"

(सम्मेलन पत्रिका/सनेही जन्मशती विशेषांक/पृष्ठ : ३)

हिन्दी भाषी क्षेत्र में विशाल जनसमूह वाले कवि सम्मेलनों की परम्परा की स्थापना सनेही जी ने 'सुकवि' के माध्यम से की थी तथा जन-जन में खड़ी बोली के संस्कार को जागृत किया था।

उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिलान्तर्गत हड़हा ग्राम में श्रावण शुक्ल त्रयोदशी २१ अगस्त १८८३ को सनेही जी का जन्म हुआ था। घनाक्षरी, सवैया, कवित्त—यानी छन्द कविता के सिद्ध कवि गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' का देहावसान २० मई १९७२ ई० को कानपुर में हुआ। सनेही जी ने दस कृतियों की रचना की। इनके नाम हैं : गप्पाष्टक, प्रेम पच्चीसी, कुसुमांजलि, कृषक-क्रन्दन, त्रिशूल-तरंग, राष्ट्रीय-मंत्र, संजीवनी (सम्पादित), राष्ट्रीय वीणा (द्वितीय भाग) संपादित, कलामे त्रिशूल तथा करुणा कादम्बिनी। उन्होंने सनेही एवं त्रिशूल के अतिरिक्त अलमस्त एवं तरंगी के नाम से भी कविताएँ लिखीं।

सनेही जी का कार्यक्षेत्र कानपुर रहा है जो स्वाधीनता के पूर्व राजनीतिक आन्दोलनों का प्रमुख केन्द्र था। अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी की लेखनी से स्फूर्ति प्रदान करने वाले लेख तथा सनेही जी की 'त्रिशूल' उपनाम से लिखी जानेवाली क्रांतिकारी तथा राष्ट्रीय कविताओं का समय एक ही रहा है। 'त्रिशूल' की रचनायें गणेशजी के 'प्रताप' में प्रकाशित होतीं थीं। शायद ही कोई ऐसा राष्ट्रीय आन्दोलन होगा जिस पर 'त्रिशूल' की कलम न चली हो। उनके राष्ट्रीय तथा देशभक्ति से ओतप्रोत गीत सारे देश में गाए जाने लगे। देशभक्तों की टोलियाँ उनकी कविता की पंक्तियों को गाते हुए चलती थीं। उत्तर प्रदेश का सन् १९२१ से १९२८ तक का आन्दोलन 'त्रिशूल' के राष्ट्रीय गीतों से ही अनुप्राणित रहा है। 'त्रिशूल-तरंग' में उनकी ऐसी ही राष्ट्रीय कवितायें संग्रहीत हैं, जिसकी भूमिका गणेश शंकर विद्यार्थी ने लिखी थी। 'क्या करूँ' कविता में स्वराज्य प्राप्ति हेतु कवि की व्यग्रता दृष्टव्य है—

चैन ही पाता नहीं, पाता नहीं जब तक स्वराज्य
हाय दिल की क्या करूँ, अपने जिगर को क्या करूँ?

परतन्त्रता के निर्वासन हेतु कवि की तीखी फटकार है—

क्रूरता कर चुकी बहुत अब दूर निकल तू
है 'त्रिशूल' का वार अरी निश्चरी संभल तू

स्वाधीनता दिवस पर कवि की पंक्तियाँ—

ऐसा मंत्र फूंका है अहिंसा के पुजारी ने कि मुक्ति वरदान हाथ अविचल आया है
छार उड़ती है परतन्त्रता पयोनिधि में, पन्द्रह अगस्त में अगस्त्य बल आया है।

राजनीतिक सजगता, प्रखर राष्ट्रीयता, अपार देश-प्रेम, स्वराज्य-कामना तथा राष्ट्रीय स्वाभिमान से ओत-प्रोत सनेही जी की कविताओं में राष्ट्रनायकों के प्रति अपार

आदर-भाव मिलता है। अत्यंत चर्चित हैं उनकी दो पंक्तियाँ—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है।।

आज़ादी का अभिनंदन करने वाले 'स्वतन्त्रता-स्वागत' शीर्षक ४ छंदों की रचना सनेही जी ने की। उल्लास से परिपूर्ण पहला छन्द स्मरणीय है—

हिमगिरि-शिखर से लेकर कुमारी तक
'जय जन्मभूमि जननी' का घोष छा गया।
गंग में उमंग यमुना में रंग की तरंग
झंडा लाल किले पै तिरंगा फहरा गया।।
सिर से उतर गया भार परतन्त्रता का
स्वाभिमान सहित स्वदेश स्वत्व पा गया।
सुदिन स्वराज्य का स्वतन्त्रता का समता का
सत्य का सनेह का 'सनेही' आज आ गया।।

मातृभाषा हिन्दी के प्रति उनका गीत *'भजसि मन हिन्दी, हिन्दु, हिन्द'* अत्यधिक प्रचलित रहा है। *'देखो-देखो ये हिन्दू हैं हिन्दी से घबराते हैं'* तथा *'हा अभागिनी हूँ मैं कैसे सुत उपजाती हूँ। कर पाती जब उन्हें काम का दर-दर ठोकर खाती हूँ'* रचनायें उनके उत्कट हिन्दी प्रेम को प्रकट करती हैं।

उस काल की प्रमुख पत्रिकायें अपने मुखपृष्ठ पर 'मोटो' के रूप में सनेहीजी की पंक्तियों को उद्धृत करती थीं—

शानदार था भूत भविष्यत् भी महान है
अगर संभालें उसे आज जो वर्तमान है (वर्तमान के मुखपृष्ठ पर)
जो भरा नहीं है भावों से जिसमें बहती रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।
('स्वदेश' के मुखपृष्ठ पर)
कमर बाँधकर अमर समर में नाम करेंगे
सैनिक हैं हम विजय स्वत्व संग्राम करेंगे ('सैनिक' के मुखपृष्ठ पर)

सनेही जी ने भक्ति-भाव के साथ परमसत्ता की आराधना भी की है। प्रभु के प्रति उनकी निष्ठा 'भक्त की अभिलाषा' शीर्षक कविता में मार्मिकता के साथ व्यक्त हुई है—

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ,
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ।

तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ,
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीता की महिमा का गुणगान करते हुए सनेहीजी ने छन्द लिखे हैं। इन छन्दों में इस ग्रंथ का वैशिष्ट्य तो है ही मानव मात्र को गीतामृत पान कर जीवन-समर में साहस के साथ विजय-श्री वरण करने का परामर्श भी दिया गया है। गीता की सीख को सरल भाषा में इस छंद में पिरोया गया है—

कामना रहित कर हरि की शरण देती,
भवसिन्धु तरना सिखाती हमें गीता है।
आत्म-तत्त्व-बोध से अमरता प्रदान कर,
मृत्यु से न डरना सिखलाती हमें गीता है।।
क्या है करणीय और क्या है अकरणीय,
श्रेय कर्म करना सिखाती हमें गीता है।
जीवन मरण की समस्या हल करती है,
जीना और मरना सिखाती हमें गीता है।।

आस्था और विश्वास के संदेश वाहक कवि ने कर्तव्यनिष्ठा को मानवता की आधारशिला माना है। विरोधों और बाधाओं की चिन्ता न कर कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर होने लिए उनकी ये पंक्तियाँ कवि के उत्कट आत्मविश्वास को प्रकट करती हैं—

करने चले तंग पतंग जलाकर मिट्टी में मिट्टी मिला चुका हूँ,
तम तोम का काम तमाम किया दुनिया को प्रकाश में ला चुका हूँ।
नहीं चाह 'सनेही' सनेह की और सनेह में जी मैं जला चुका हूँ,
बुझने का मुझे कुछ दुःख नहीं पथ सैकड़ों को दिखला चुका हूँ।।

सनेही जी ने ब्रज, खड़ी बोली तथा उर्दू में समान रूप से अधिकारपूर्वक कवितायें लिखी हैं। उन्होंने दोहा, सोरठा, रोला, छप्पय, सवैया, घनाक्षरी, गीत, वर्णिक वृत्त आदि विविध शैलियों में रचनायें की हैं परन्तु सवैया और घनाक्षरी के वे अद्वितीय आचार्य रहे हैं। उनकी ब्रज-भाषा सम्बन्धी कविताओं में अलंकार विधान की स्वाभाविकता, उक्ति वैचित्र्य सुगठित छंद योजना, भाव सौंदर्य तथा साहित्यिक गरिमा एवं रीतिकालीन परम्परा लक्षित होती है। 'सनेही' उपनाम से रची गयी उनकी कविताएँ साहित्यिकता से परिपूर्ण हैं। उनमें प्रेम तथा श्रृंगार का अपूर्व वर्णन विशिष्ट शैली में हुआ है।

समस्यापूर्ति के क्षेत्र में सनेही जी का अवदान रेखांकित करने योग्य है। समस्यापूर्ति भी महज तुकबंदी या खानापूर्ति नहीं—छंद, रस, अलंकार से समन्वित ऐसी रचना जो प्रभाव एवं प्रवाह दोनों की सृष्टि करे— पाठकों, काव्य-मर्मज्ञों, श्रोताओं

को अभिभूत कर ले। 'सुकवि' के हर अंक में समस्यापूर्ति के पचासों छंद तथा कानपुर की गोष्ठियों में इस प्रकार की रचनाओं की प्रस्तुति अपने में अनोखी थी। इस दृष्टि से सनेही जी और समस्यापूर्ति को एक-दूसरे का पर्याय माना जा सकता है। पेश हैं सनेही विरचित समस्यापूर्ति के कुछ छंद—

एक ते ह्वै गईं द्वै तसवीरें :

दर्पन में हिय के वह मूरति, आय फँसी न चली तदबीरें,
सो ह्वै दुटूक सनेही गयो, पै परी बिरहागिनि की बहु भीरें।
दोउन में प्रतिबिम्बित वा छवि, दूनौ लगी उपजावन पीरें,
सालति एकै रही जिय में, अब एक ते ह्वै गईं द्वै तस्वीरें।।

पानी है :

लव-कुश अश्व बाँधकर बिना सेना लड़े
लंक-जेता बाप से भी हार नहीं मानी है।
भूषण की बानी ने चढ़ाया ऐसा पानी यहीं
चमकी भवानी-भक्त शिवा की भवानी है।।
पहले स्वतंत्रता-समर में 'सनेही' यहीं–
नानाराव से मरी फिरंगियों की नानी है।
नाम सुनते ही हैं पकड़ते विपक्षी कान,
यह कानपुर है यहाँ का कड़ा पानी है।।

मन की :

संकित हिये सों पिय-अंकित सँदेसो बाँच्यो
आयी हाथ थाती-सी, 'सनेही' प्रेम-पन की।
नीलम अधर लाल ह्वै के दमकन लागे,
खिंच गई मधु-रेखा मधुर हँसन की।
स्याम-घन-सुरति सुरस बरसन लागे,
बारे आँस-मोती आस पूरी अँखियन की।
माथ सों छुवाती सियराती लाय-लाय छाती
पाती आगमन की बुझाती आग मन की।।

जब प्रियतम के सौंदर्य का पान करने को आँखें व्याकुल हों और लोक-लाज तथा गुरुजनों का भय बाधा स्वरूप हो तो हृदय में प्रेम की पीड़ा उठनी स्वाभाविक है—

हार पिन्हाइबो को उनमें हैं पिरोवती मोतिन की लड़ी आँखें,
दाबि हियो रहि जैबो परे लखि के गुरु लोगन की कड़ी आँखें।
हाय कबै फिर सामुहे हो हैं, 'सनेही' सरोज की पंखड़ी आँखें,
सालैं घड़ी-घड़ी जी में गड़ी रस में उमड़ी वे बड़ी-बड़ी आँखें।।

द्वितीया का चन्द्र कवि को काल की कटारी के रूप में भासित होता है। सूर्य के वध की अभूतपूर्व एवं अद्‌भुत कल्पना के साथ कवि ने असम्भव को सम्भव कर दिखाया है इस घनाक्षरी में—

वध दिनराज का हुआ है पक्षी रो रहे हैं,
पश्चिम में रुधिर प्रवाह अभी जारी है
दिशावधुओं ने काली साड़ी पहनी है,
नभ छाती छलनी है निशा रोती सी पधारी है
तड़प-तड़प के वियोगी प्राण खो रहे हैं
कैसी तीर औचक कलेजे बीच मारी है
तमराज नहीं, जमघट जमराज का है,
नवचन्द्र नहीं क्रूर काल की कटारी है।

हिन्दी की जिस प्रगतिशील धारा का प्रारम्भ १९३६ से होता है उसकी संवेदनायें सनेही जी के काव्य में १९१८ से ही दृष्टिगत होती हैं। 'कृषक क्रंदन' तथा किसानों की व्यथा से संबद्ध रचनायें इसका प्रमाण हैं। १९१८ में 'सरस्वती' में प्रकाशित असहाय और भूखे भिखारी बालक की दशा का चित्रण उनकी 'मौन-भाषा' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में दृष्टव्य है— *वह अनाथ असहाय भिखारी बालक भूखा/ कोई उसको नहीं खिलाता रूखा-सूखा।*

इस प्रकार सनेहीजी ने एक लम्बी अवधि तक हिन्दी काव्य की निष्ठा-पूर्वक सेवा की है। वे भाषा की प्रगति तथा साहित्य की समृद्धि हेतु अपने समस्त अनुयायियों के साथ जीवन पर्यन्त सचेष्ट रहे हैं। भारत माता और मां भारती के चरणों में इस अवदान के लिए सम्पूर्ण हिन्दी भाषी जनता उनकी ऋणी रहेगी तथा वे शताब्दियों तक अमर रहेंगे। ●

प्रखर गांधीवादी राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी

राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी ने अपने काल की राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का सूक्ष्म अवलोकन तथा मंथन किया और अपनी रचनाओं के माध्यम से देश और समाज को प्रखर राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना प्रदान की। यही कारण है कि वे मैथिली शरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान तथा दिनकर जैसे राष्ट्रीय कवियों की पंक्ति में प्रतिष्ठित हो सके।

मार्च १९०६ को बिन्दकी (फतेहपुर) उ.प्र. में जन्मे द्विवेदीजी की प्रसिद्धि गांधीवादी कवि के रूप में रही है। गांधीवादी विचारधारा को अपनी कविता द्वारा सामान्य किसान से लेकर विशिष्ट जनों तक ओजस्वी ढंग से संप्रेषित करनेवाले कवि सोहनलाल द्विवेदी गांधी-युग के सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय कवि के रूप में समादृत हैं। द्विवेदीजी की कविताओं में गांधीजी के व्यक्तित्व के प्रति अपार-श्रद्धा तथा भक्ति-भाव प्रकट हुआ है। सत्याग्रह में अटूट आस्था, राष्ट्रीय एकता की भावना, खादी का प्रचार, किसानों के उन्नयन की कामना, गाँवों का विकास तथा सत्य और अहिंसा के गांधीवादी चिंतन एवं दर्शन को काव्यात्मकता प्रदान कर ही सोहनलाल जी हिन्दी साहित्य में सशक्त गांधीवादी कवि के रूप में स्वीकृत हुए हैं।

अन्य कवियों की भाँति कवि ने भावुकता को कल्पना का स्वरूप प्रदान नहीं किया अपितु सरल एवं सशक्त भाषा के माध्यम से जो कविताएँ रचीं, वे जन-जन की ज़बान पर प्रतिष्ठित हो गईं। कवि गांधी के व्यक्तित्व से इतना अभिभूत है कि उसे ऐसी महान विभूति का वर्णन करने हेतु भाषा-भाव-शब्द-छंद सभी अपर्याप्त लगते हैं। वह कह उठता है—

किस भाषा में करूँ आज मैं, देव तुम्हारा अभिनंदन,
शब्द नहीं कर पाते हैं समुचित सम्मान तुम्हारा।
भाव मूक हो जाते हैं, गाते गुण-गान तुम्हारा,
छंद मंद पड़ जाते हैं, रुक जाती है स्वर-धारा।।

महात्मा गांधी न केवल कवि के काव्यादर्श थे अपितु सम्पूर्ण देश की आशाओं

आकांक्षाओं के प्रतीक थे। राष्ट्र पिता के चरणों में राष्ट्र-कवि का सम्पूर्ण समर्पण स्वाभाविक है क्योंकि उसके भाव-जगत में बापू की एक भव्य छवि है :

विभु का पावन आदेश लिए, देवों का अनुपम वेश लिए
वह कौन चला जाता पथ पर, नव-युग का नव-संदेश लिए?

सवाल का जवाब भी कवि स्वयं ही देता है—

वह मलय-पवन, वह है आंधी, / वह मन-मोहन, वह है गांधी
झुकता हिमाद्रि जिसके पद-तक अपना गौरव निःशेष लिए
वह आज चला जाता पथ पर, नव-युग का नव-संदेश लिए

कवि की यही भावना 'युगावतार गांधी' शीर्षक रचना का सृजन कराती है जो आजतक की गांधी-केन्द्रित कविताओं में सर्वश्रेष्ठ तो है ही, बहुतों को कंठस्थ भी है। 'दांडी यात्रा' के यात्री के प्रति कवि की अभिव्यक्ति ध्यातव्य है—

चल पड़े जिधर दो डग मग में, चल पड़े कोटि पग उसी ओर
गड़ गई जिधर भी एक दृष्टि, गड़ गए कोटि दृग उसी ओर।।
जिसके सिर पर निज धरा हाथ, उसके सिर रक्षक कोटि हाथ
जिस पर निज मस्तक झुका दिया, झुक गये उसी पर कोटि माथ।।
हे कोटि चरण! हे कोटि बाहु! हे कोटि रूप! हे कोटि नाम!
तुम एक मूर्ति, प्रतिमूर्ति कोटि, हे कोटि मूर्ति! तुमको प्रणाम।।

इसी कविता में कवि ने गांधीजी को युग-परिवर्तक, युग-संस्थापक, युग-संचालक, युग-निर्माता, युग-मूर्ति कहकर युग का युग-युगों तक नमस्कार निवेदित किया है। अपनी प्रखर राष्ट्रीय-भावना के कारण यह गीत निराश और नैतिक दृष्टि से टूट रहे भारतीयों में आशा का संचार कर उन्हें गांधीजी के नेतृत्व में अंग्रेजों के खिलाफ सतत संघर्ष की प्रेरणा देता रहा है। इस गीत ने स्वाधीनताकामी भारतवासियों को जो दृढ़ता, बल और आत्मविश्वास प्रदान किया था उसकी चर्चा आज भी उस ज़माने के लोग करते हैं।

१९४४ में सोहनलाल द्विवेदी ने प्रमुख भारतीय भाषाओं की गांधी संबंधी सुंदर रचनाओं को संकलित कर 'गांधी अभिनंदन ग्रंथ' का सम्पादन किया था। इस सर्वथा नवीन प्रयास की विशेषता यह थी कि इसमें सभी राष्ट्रीय भाषाएँ देवनागरी के माध्यम से एक राष्ट्र की वाणी बन अपने जन-नायक बापू का अभिनंदन करती दिखाई पड़ीं। सेवाग्राम की अनेक रचनाएँ, खादी का गीत, हिन्दुस्तान, किसान, सेगाँव का संत, बच्चों के बापू शीर्षक रचनाओं में भी कवि ने बापू के प्रति अपनी भावांजलि अर्पित की है।

द्विवेदीजी के 'खादी-गीत' की प्रसिद्धि का अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि श्यामलाल पार्षद के 'झंडा-गीत' के साथ यह गीत भी सबकी जबान पर

था। स्वदेश-प्रेम तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रति अनुराग जगाने में इस गीत ने बड़ा योग दिया था। उस दौरान खादी-गीत और सोहनलाल द्विवेदी एक दूसरे का पर्याय हो गए थे। गीत की हर पंक्ति प्रेरक और प्रभावोत्पादक है—

खादी के धागे-धागे में अपनेपन का अभिमान भरा।
माता का इसमें प्यार भरा अन्यायी का अपमान भरा।।
खादी ही भर-भर देश-प्रेम का प्याला मधुर पिलायेगी।
खादी ही दे-दे संजीवन मुर्दों को पुनः जिलायेगी।।
खादी ही बढ़ चरणों पर पड़ नूपुर सी लिपट मनायेगी।
खादी ही भारत से रूठी आजादी को घर लायेगी।।

वास्तव में खादी को प्रतिष्ठित किए बिना गांधीवाद की आधार-भूमि ही निर्मित नहीं हो पाती। कविवर सुमित्रानंदन पंत ने इस गीत पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है— "गांधीवाद के भीतर से श्री सोहनलाल द्विवेदी ने अपना राष्ट्रीय काव्य खादी के ताने-बाने से बुनकर हिन्दी संसार को भेंट किया है।"

द्विवेदीजी के काव्यादर्श गांधी का शरीर भी भारतीय किसान की जर्जर, दुर्बल, जीर्ण-शीर्ण काया की तरह ही था। मद्रास की अर्द्धनग्न नारी को देखकर गांधीजी ने अत्यल्प वस्त्र पहनने का संकल्प किया था, परन्तु उस जर्जर और अधनंगे शरीर में अपूर्व तेजस्विता थी—

हैं मुट्ठी भर हड्डियाँ भले ही कह लो तुम इसको शरीर।
संसार कँपाता चलता है, यह भारत का नंगा फकीर।।

द्विवेदी जी की सहानुभूति सदैव किसानों, दलितों और शोषितों के प्रति रही है। किसान और ग्राम्यजीवन उनके प्रिय विषय रहे हैं। कवि को हिन्दुस्थान की वास्तविक छवि गाँवों में ही दिखाई पड़ती है— *है अपना हिन्दुस्तान कहाँ वह बसा हमारे गाँवों में।*

सोहनलाल द्विवेदी की स्पष्ट अवधारणा थी कि गाँवों को भूलकर या किसानों की अवहेलना कर गांधीवादी जीवन-दृष्टि पुष्ट नहीं हो सकती। परन्तु इस हिन्दुस्तान का असली रूप प्रस्तुत करने वाले किसानों की दशा कितनी दयनीय है :

ऋण भार सदा जिनके सिर पर बढ़ता ही जाता सूद व्याज
घर लाने के पहले कर से, छिन जाता है जिनका अनाज

ऐसी स्थिति उस कृषक वर्ग की है जिसके सबल कंधों पर पृथ्वी टिकी हुई है–

ये रंग महल ये मान भवन, ये लीला गृह ये गृह उपवन।
ये क्रीड़ा गृह, अंतर प्रांगण, रनिवास खास ये राज-सदन।।
वह तेरी दौलत पर किसान, वह तेरी मेहनत पर किसान।
वह तेरी न्यामत पर किसान, वह तेरी बरकत पर किसान।।

द्विवेदीजी ने गांधीजी की विराटता का समीप से दर्शन कर अपने काव्य में उसे सहज रूप में प्रभावशाली ढंग से वर्णित किया है इसीलिए उनकी गांधी-विषयक रचनाएँ निष्प्राण नहीं है। बापू की हत्या कवि को विचलित कर देती है परन्तु वह दुःख में डूबकर गांधी के आदर्शों को भुलाने की भूल नहीं करना चाहता। उसका प्रण है—

जो गांधी ने कहा उसी की तिल-तिल पूर्ति करेंगे हम।
आज राष्ट्र के कण-कण को गांधी की मूर्ति करेंगे हम।।

लेकिन आजादी के बाद जब गांधीवादियों द्वारा ही बापू के आदर्शों/सिद्धांतों का उल्लंघन उसे दिखाई पड़ता है तब वह उन्हें फटकारने से भी नहीं चूकता—

तुम गुमराह स्वयं तब तुम क्या दूर करोगे गुमराही।
गांधीजी की जय मत बोलो बन गांधी के अनुयायी।।

द्विवेदी जी शौर्य और देशभक्ति की भावना के उद्‌गाता कवि हैं। उनकी रचनाओं ने बालकों से लेकर प्रौढ़ों तक को जगाने का कार्य किया है। *'सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी जागो मेरे सोने वाले'* कहकर वह न केवल राष्ट्र को जागृत करता है अपितु अपने स्वर्णिम अतीत की स्मृति भी कराता है—

जब सारी दुनिया सोती थी तब तुमने ही उसे जगाया
दिव्य ज्ञान के दीप जलाकर तुमने ही तम दूर भगाया

ऐसे भारतवासियों की सुसुप्तावस्था उसे व्यग्र कर देती है। वह कह उठता है–

अब न गहरी नींद में तुम सो सकोगे गीत गाकर मैं जगाने आ रहा हूँ।
अतल अस्ताचल तुम्हें जाने न दूँगा अरुण उदयाचल सजाने आ रहा हूँ।।

कितनी प्रभावी हैं इसकी समापन पंक्तियाँ—

दासता इन्सान की करनी नहीं है, दासता भगवान की करनी नहीं है।
वन्दना में मैं तुम्हें झुकने न दूँगा, वन्दनीय तुम्हें बनाने आ रहा हूँ।।

कवि ने इतिहास के वीर पुरुषों एवं गौरवशाली चरित्रों का गीत गाया है और जनता में नई जागृति लाने की चेष्टा की है। उनकी 'महाराणा प्रताप' कविता आज भी उतनी ही सामयिक है जितनी तब थी। यह कविता कवि के छात्र जीवन की थी जिसे सुनकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। कवि का ओजस्वी आह्वान है—

जागो प्रताप मेवाड़ देश के लक्ष्य भेद हैं जगा रहे
जागो प्रताप माँ बहनों के अपमान छेद हैं जगा रहे

स्वाधीनता के लिए संघर्षशील सत्याग्रहियों को आगे बढ़ाने के लिए कवि का गीत प्रेरणा देता है—

न हाथ एक शस्त्र हो न साथ एक अस्त्र हो न अन्न, नीर, वस्त्र हो
हटो नहीं, डटो वहीं, बढ़े चलो-बढ़े चलो।

उनकी ओजपूर्ण-जोशीली कवितायें गेय और प्रयाणगीतों के रूप में बालकों, युवकों और देशभक्तों की जिह्वाओं पर रही हैं। कवि के अनुसार मातृभूमि के लिए अपना बलिदान कर देने में ही जीवन की सार्थकता है—

दुनिया में जीने का सबसे सुंदर मधुर तकाजा।
ओ शहीद, उठने दे अपना फूलों भरा जनाजा।।

गुलाम भारत को अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त कराने हेतु आजादी के दीवानों के साथ कवि सदैव खड़ा रहा है। अत्याचारी ब्रिटिश राजतंत्र की दमनकारी नीतियों के खिलाफ कवि की ललकार ध्यातव्य है—

जंजीरों से चले बाँधने आजादी की चाह
घी से आग बुझाने की सोची है सीधी राह

कवि को अदम्य विश्वास रहा है—

टूटेंगी अपनी हथकड़ियाँ, ढह जायेगा यह राजतंत्र।
होगी भारतजननी स्वतंत्र, होंगे भारतवासी स्वतंत्र।।

देश आजाद तो हो गया पर आजादी के बाद हमारे शासक सत्ता के मद में चूर हो गए। गांधी के अनुयायियों में पद, पैसा और प्रतिष्ठा प्राप्ति की होड़ सी लग गई। कवि की तीखी फटकार उन्हें भी सुननी पड़ी। जनता के दुःखदर्द को मिटाने में जब दिल्ली के शासक अक्षम सिद्ध हुए तो कवि ने उन्हें भी नहीं बख्शा—

कलम छोड़कर ले न सहारा क्रोध कहीं तलवार का
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का

ऐसी बातें वही कवि कह सकता है जिससे राष्ट्रीयता और स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा हो तथा जिसे राजसत्ता से किसी प्रकार की चाहत न हो। स्वाधीनता दिवस की वर्षगांठ पर वह देश के कर्णधारों से सवाल करता है—

ऐ लाल किले पर झंडा फहराने वालों, सच कहना कितने साथी साथ तुम्हारे हैं।
क्या आज खुशी की लहर देश में है सचमुच, उठ रहे खुशी के सचमुच ऊँचे नारे हैं?

देश के स्वाभिमान, गौरव और शौर्य की गाथा गाने वाले राष्ट्रकवि को नेताओं की भिखमंगी प्रवृत्ति पर आपत्ति है—

तुम भीख अन्न की देश-देश में माँग रहे,
तुम भीख द्रव्य की देश-देश में माँग रहे।
इस आजादी से मिली तुम्हें यह आजादी,
तुम कर्जदार बन समझे मार छलांग रहे।

यह कौम देश का जब-जब कर्ज चुकायेगी,
इस आजादी की याद हमेशा आएगी।
बेड़ियाँ कर्ज की और न बाँधो पाँवों में,
क्या इससे हमको नींद चैन की आयेगी?

अपनी अपार देशभक्ति को व्यक्त करता हुआ कवि देश के शासकों को जनशक्ति की कठिन चुनौती देता है—

गर मानोगे तुम ऐसे नहीं मनाने से, जैसे मानोगे वैसे तुम्हें मनाऊँगा–
झंडा फहराऊँगा ऊँचा तुमसे ऊँचा, गद्दार न मैं, झंडे की शान झुकाऊँगा।
पर हाँ हुजूर! मैं नहीं, करें जो हाँ में हाँ, जो ऐब करोगे खुलकर उसे बताऊँगा
मदहोश हुए गर सिंहासन में बैठ-बैठ, नीचे उतारकर तुम्हें होश में लाऊँगा।

पंडित द्विवेदी राष्ट्रीय काव्यधारा की प्रथम पंक्ति के कवि तो थे ही, बच्चों के लिए भी उनकी कविताओं के अनेक संग्रह प्रकशित हुए हैं। दूध-बताशा, बांसुरी, झरना, शिशु भारती, बच्चों के बापू, नेहरू चाचा, मोदक आदि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। द्विवेदी जी ने बच्चों की कवितायें उन्हीं की भाषा में लिखी हैं। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे 'बच्चों के महाकवि' कहे जाते रहे हैं। आवश्यक स्थलों पर बड़े ही सहज ढंग से उन्होंने उपदेश भी दे दिया है—

पर्वत कहता शीश उठाकर तुम भी ऊँचे बन जाओ।
सागर कहता है लहराकर मन में गहराई लाओ।।
पृथ्वी कहती धैर्य न छोड़ो कितना ही हो सिर पर भार।
नभ कहता है फैलो इतना ढक लो तुम सारा संसार।।

बच्चों के लिए उनकी 'हिमालय' शीर्षक कविता भी कितनी आकर्षक है–

यह है भारत का शुभ्र मुकुट, यह है भारत का उच्च भाल
सामने अचल जो खड़ा हुआ, हिमगिरि विशाल, गिरिवर विशाल।

इस प्रकार द्विवेदी जी ने अपनी बहुरंगी और बहुआयामी रचनाओं के द्वारा कहीं गांधीजी की गरिमा का वर्णन किया है तो कहीं भारत के गौरवशाली अतीत का स्मरण किया है; कहीं शिशुवर्ग के उल्लास को व्यक्त किया है तो कहीं श्रमिक-कृषक और शोषित वर्ग की पीड़ा को मुखरित किया है। उनकी कविता वर्तमान शताब्दी के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण दशकों की विशिष्ट गतिविधियों से जुड़ी है। वे सच्चे अर्थों में युग-कवि माने जा सकते हैं। उन्होंने हिन्दी-साहित्य को अपने जिन काव्य सुमनों से समृद्ध किया है, उनकी सुगंध युग-युगों तक हमें प्रेरणा देती रहेगी। ●

हिन्दी साहित्य में असांप्रदायिक चेतना की परम्परा और अमृतलाल नागर

यों तो विशाल जनसंख्या वाला हमारा देश अनेक समस्याओं से ग्रस्त है परन्तु पिछले कुछ वर्षों में जिस समस्या ने भारतवर्ष को सर्वाधिक प्रभावित किया है वह सांप्रदायिकता की समस्या ही है। सांप्रदायिकता इन वर्षों में उत्पन्न हुई कोई नई समस्या नहीं है; स्वाधीनता-पूर्व से लेकर उत्तर-स्वाधीनता के विस्तृत कालखण्ड में इसकी विभीषिका ने असंख्य जानें ली हैं, देश को जर्जर किया है और 'विविधता में एकता' की मूल भावना को आहत किया है। ऐसा नहीं है कि समस्या के समाधान के लिए चेष्टा नहीं की गई, परन्तु दुर्भाग्य यह है कि जितने प्रयास किए जाते हैं समस्या उतनी ही जटिल होती जाती है— 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'। पारस्परिक स्नेह-सद्भाव के लिए विविध राजनीतिक तथा सामाजिक प्रयत्नों के साथ हमारे कवि और साहित्यकार भी अपनी प्रेरक रचनाओं से जनता का मार्गदर्शन करते रहे हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आधुनिक साहित्यकारों तक एक लंबी सूची इस संदर्भ में तैयार की जा सकती है। इस निबंध में, सभी रचनाकारों की रचनाओं पर विचार करना संभव नहीं है, केवल शीर्षस्थ साहित्यकारों की असांप्रदायिक चेतना पर विचार करते हुए उनकी सशक्त परंपरा की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में अमृतलाल नागर के विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

नवंबर १८८४ में बलिया के ददरी मेले में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' शीर्षक अपने व्याख्यान में देश की प्रगति में बाधक तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख किया था। इस भाषण में उन्होंने जातिगत वैषम्य की बुराइयों की ओर संकेत तो किया ही था, विविध संप्रदायों के आपसी सामंजस्य की आवश्यकता भी प्रतिपादित की थी। उन्हीं के शब्दों में—

"यह समय इन झगड़ों का नहीं। हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए। जाति में कोई चाहे ऊँचा हो, चाहे नीचा हो सबका आदर कीजिए, जो जिस योग्य हो उसको वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए।

सब लोग आपस में मिलिए"। आज के जातिगत और संप्रदायगत मनोमालिन्य के सन्दर्भ में ये पंक्तियाँ उतनी ही अर्थगर्भ हैं जितनी तब थीं।

एक समाजसुधारक तथा सजग साहित्यकार के रूप में भारतेन्दु ने दोनों सम्प्रदायों की अतिवादिता को आड़े हाथों लिया है। निष्पक्ष भाव से मुसलमान और हिन्दू सम्प्रदाय के लोगों को उनका परामर्श भारतेन्दुजी के उत्कट देशप्रेम का परिचायक है— "मुसलमान भाइयों को उचित है कि इस हिन्दुस्तान में बसकर, वे लोग हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक भाइयों की भाँति हिन्दुओं से बर्ताव करें। ऐसी बात जो हिन्दुओं का जी दुखानेवाली हो, न करें।"

इसी क्रम में वे हिन्दुओं से कहते हैं— "भाई हिन्दुओ! तुम भी मतमतांतर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मरट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।"

स्पष्टतः राष्ट्रीयता का मंत्र जपनेवाले भारतेन्दु में राष्ट्रीयता कहीं उग्र, फासिस्टवाद या कट्टरता का रूप नहीं लेती। इसी काल के प्रसिद्ध साहित्यकार उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने ऐसी ही भावना व्यक्त करते हुए लिखा था—

हिन्दू, मुस्लिम, जैन, पारसी, ईसाई सब जात।
सुखी होंय हिय भरें, 'प्रेमघन' सकल भारती भ्रात।।

प्रसिद्ध पत्रकार तथा स्वाधीनता आन्दोलन के अग्रणी योद्धा अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के विचार सहज और मार्मिक हैं। २७ अक्टूबर १९२४ को 'प्रताप' में प्रकाशित 'धर्म की आड़' शीर्षक निबंध की आरंभिक पंक्तियाँ आज भी हमारा दिशा-निर्देश करने में सक्षम हैं— "इस समय देश में धर्म की धूम है। उत्पात किए जाते हैं तो धर्म और ईमान के नाम पर, और जिद की जाती है तो धर्म और ईमान के नाम पर। रमुआ पासी और बुद्धू मियाँ धर्म और ईमान को जानें या न जानें, परन्तु उसके नाम पर उबल पड़ते हैं और जान लेने और जान देने के लिए तैयार हो जाते हैं।" इसी लेख में उन्होंने धर्म का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए लिखा था— "आजां देने, शंख बजाने, नाक दबाने और नमाज पढ़ने का नाम धर्म नहीं है। शुद्धाचरण और सदाचार ही धर्म के स्पष्ट चिह्न हैं। दो घण्टे बैठकर पूजा कीजिए और पंच-वक्ता नमाज अदा कीजिए परन्तु ईश्वर को इस प्रकार की रिश्वत दे चुकने के पश्चात् यदि आप अपने को दिनभर बेईमानी करने और दूसरों को तकलीफ पहुँचाने के लिए आजाद समझते हैं तो इस धर्म को अब आगे आनेवाला समाज कदापि नहीं टिकने देगा।" उन्होंने धर्म के नाम पर

चलनेवाले व्यापार को रोकने का आह्वान किया था— "धर्म और ईमान के नाम पर किए जाने वाले इस भीषण व्यापार को रोकने के लिए साहस और दृढ़ता के साथ उद्योग होना चाहिए। जबतक ऐसा नहीं होगा, तबतक भारतवर्ष में नित्यप्रति बढ़ते जानेवाले झगड़े कम न होंगे।"

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त धर्म के प्रति अपार निष्ठा के लिए प्रख्यात थे। उनकी प्रखर राष्ट्रीयता में कुछ विद्वानों को सांप्रदायिकता का आभास होता रहा है। परन्तु उन विद्वानों के भ्रम-निवारण हेतु 'भारत-भारती' के 'वर्तमान खंड' की वे पंक्तियाँ पर्याप्त हैं जो भारत की गाय ने मुसलमानों को संबोधित करते हुए कही हैं—

हिन्दू तथा तुम सब चढ़े हो एक नौका पर यहाँ
जो एक का होगा अहित तो दूसरे का हित कहाँ?
सप्रेम हिलमिलकर रहो यात्रा सुखद होगी तभी
पीछे हुआ सो हो गया अब सामने देखो सभी।

गुप्तजी ने इस प्रसंग में दोनों समुदाय के लोगों को 'एक नाव में सवार' बताकर यह इंगित किया है कि दोनों का भविष्य परस्पर संबद्ध है। किसी एक की क्षति से दूसरे का अहित अवश्यंभावी है। यही कारण है कि अंतिम पंक्ति में वे विद्वेष की पुरानी बातों को भुलाकर, भविष्य की ओर उन्मुख होने का आग्रह करते हैं।

गुप्तजी की इस प्रगतिशील और व्यावहारिक दृष्टि का विकास निराला की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। जून १९३० में 'सामाजिक व्यवस्था' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने लिखा था— "हिन्दू और मुसलमानों की समस्या इस देश की पराधीनता की सबसे बड़ी समस्या है। वर्त्तमान समाज का जो रूप है उसके भीतर से नवीन रूप निकले बिना उस समस्या की उलझन नहीं मिट सकती।" इसी टिप्पणी में निराला लिखते हैं— "अगर मुसलमानों के साथ पान-पानी आदि प्राथमिक साधारण व्यवहार जारी हो जाय तो इससे हिन्दुओं की जबानी मैत्री वास्तव में कुछ कर दिखा सकती है और हमेशा की यह मार-काट बन्द हो जायगी। धर्म के नाम पर जो यह इतना बड़ा हत्याकाण्ड हो जाया करता है न होगा।"

निराला ने 'हिन्दू-मुस्लिम समस्या' शीर्षक अपने लेख में लिखा है— 'इस देश की मनुष्यता निर्माण और हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न का हल होना एक अर्थ रखते हैं। .....बड़े दुःख की बात है कि हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़कर अपने भाग्य का निर्णय करना चाहते हैं। इन दोनों की लड़ाई, संवादपत्रों में एक-दूसरे का पक्ष लेकर एक-दूसरे का पक्ष समर्थन, प्रतिवाद, प्रतिकार की चेष्टा, आरती और नमाज के नियमों का दृढ़ीकरण आदि-आदि क्या यही साबित नहीं कर रहे कि हिन्दू और मुसलमान

मनुष्यता से कितनी दूर हैं, और इस तरह रहकर कितनी दूर रहेंगे।" 'सुधा' मासिक (लखनऊ) में प्रकाशित यह संपादकीय टिप्पणी आज के संदर्भ में भी अक्षरशः लागू होती है।

आज प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का यह दायित्व है कि वह इस बात पर गौर करे कि दोनों संप्रदाय के लोग किस कारण एक दूसरे से दूर होते जा रहे हैं। एक दूसरे की भावना पर चोट करके, किसी के धार्मिक विश्वास का हनन करके तथा किसी के स्वाभिमान को ठेस पहुँचाकर कोई भी संप्रदाय अपना बड़प्पन सिद्ध नहीं कर सकता। यदि ऐसा होता भी है तो उसका प्रभाव अस्थायी होगा।

वास्तव में धार्मिक संकीर्णता ही संघर्ष का कारण है, साम्प्रदायिक भावना का मूल है। धार्मिक असहिष्णुता के कारण एक वर्ग दूसरे के विरुद्ध उग्र होता जा रहा है। दुर्भाग्यवश इस भावना को राजनीतिक नेता बढ़ावा देकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं। सांप्रदायिकता को राजनीति से जोड़कर राजनेता अपनी चुनावी फसल काट रहे हैं। नागरजी ने एक सजग लेखक की भाँति सांप्रदायिकता की विकरालता को पहचाना है और अपनी कृतियों द्वारा सद्भावपरक विचारों को प्रस्तुत किया है। बूँद और समुद्र, अमृत और विष, बिखरे तिनके, अग्निगर्भा, करवट और पीढ़ियाँ जैसे सामाजिक उपन्यासों में यह समस्या तो उठाई ही गई है, अन्य उपन्यासों में भी लेखक ने यत्र-तत्र सांप्रदायिकता के विष की विकरालता की ओर संकेत किया है। नागरजी की मान्यता है कि सांप्रदायिक विद्वेष के पीछे राजनीतिक दलों का स्वार्थ है। तभी तो वे समान भाव से सभी दलों पर प्रहार करते हैं। 'बूँद और समुद्र' के नायक सज्जन की उक्ति में यही भावना व्यक्त हुई है— "आज इस देश में क्या कांग्रेस, क्या सोशलिस्ट पार्टी, कम्यूनिस्ट पार्टी, जनसंघ, हिन्दू महासभा आदि जितनी भी राजनीतिक पार्टियाँ हैं— सब अधिकांश में एक-एक से बढ़कर बेईमान, क्षुद्र आकांक्षाओं वाले जालसाज, दंभी और मगरूरों द्वारा अनुशासित हैं; आदर्श और सिद्धांत तो महज शिकार खेलने के लिए आड़ की टट्टियाँ हैं।"

'अमृत और विष' में सांप्रदायिकता के खिलाफ लेखक स्पष्ट रूप से कहता है— "ये सब सांप्रदायिक संकीर्णता, मूर्खता, क्रूरता आदि हर तरह की प्रतिगामी और अमानवीय स्थिति में पहुँच जाते हैं। जबलपुर के हिन्दू-मुसलमान दंगे ने मुझे आंतरिक पीड़ा पहुँचाई है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बँट गया, लेकिन हिन्दू-मुसलमान समस्या अब भी जहाँ की तहाँ सी लगती है।" इसी उपन्यास में शेख फकीर मुहम्मद और राधेलाल का परस्पर संबंध हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे का आदर्श प्रस्तुत करता है। 'फकीर मुहम्मद राधेलाल' फर्म के राधेलाल जब व्यापारिक अलगाव के कारण शेख फकीर मुहम्मद

को रुपया लौटाते हैं तो शेखजी अत्यंत दुःख भरे शब्दों में कहते हैं— "ये काले नाग थैलियों में भर-भर के राधे ने मुझे डसने के लिए भेजे हैं।" जिस 'राधे' को वे अपने पुत्र दीन मुहम्मद की भाँति स्नेह करते हैं उसकी हरकत पर उनकी प्रतिक्रिया वास्तव में मर्मस्पर्शी है— "मैंने समझा था मेरा दीन मुहम्मद है पर ये राधे निकला।" साम्प्रदायिक सद्भाव की ऐसी पंक्तियाँ पाठक को प्रभावित किए बिना नहीं रहतीं।

'अग्निगर्भा' में सांप्रदायिक दंगे का चित्रण है। इस उपन्यास में लेखक ने दंगों के प्रति चिंता जताई है— "क्या क्या दुर्भाग्य भोगने पड़े हैं इस देश को। हिन्दू-मुसलमान होने से दो जातियाँ अलग हो गईं। सीमान्त गांधी खान अब्दुल गफ्फार खाँ के पुरखे ऋग्वेद की ऋचायें गाते थे लेकिन अब वह पराये हो गए हैं। वैदिक नहीं म्लेच्छ हो गये हैं। वाह, कैसा मजाक है?" इसी उपन्यास में देश में होनेवाले दंगों के बारे में प्राध्यापकों की बातचीत का यह अंश जनभावना को व्यक्त करता है— "संस्थान के एक प्राध्यापक ने कहा, 'लोग सोचते थे कि हिन्दुस्तान पाकिस्तान बन जाने के बाद सांप्रदायिक दंगे समाप्त हो जायेंगे। पर ये तो बढ़ते ही जा रहे हैं।"

सीता बोली, "बढ़ते नहीं बढ़ाये जाते हैं। और ये दंगे मेरी जान में वैसे सांप्रदायिक भी नहीं हैं जैसे देश-विभाजन से पहले होते थे। ये केवल राजनैतिक स्वार्थों के लिए कराये जा रहे हैं। ..... वोट के लिए सब कुछ किया जा रहा है। सारा दोष इस वोट की संस्कृति का ही है।" (अग्निगर्भा, पृष्ठ-१३८)

'बिखरे-तिनके' का बिल्लू इसी बात को राजनीतिक दलों के प्रति अविश्वास के रूप में कहता है— "मुझे आज देश के किसी राजनीतिक दल पर विश्वास नहीं। सबकी राजनीति आज जनता का दुःख भुनाने पर आमादा है, उन्हें दूर करने के लिए कोई भी प्रयत्नशील नहीं। दुग्धालय के साईन बोर्ड टांगकर सभी ने अपने-अपने शराबखाने खोल रखे हैं।" (बिखरे तिनके, पृष्ठ-८८)

'करवट' के पीर-अली का यह कथन धर्मान्धता के नाम पर करारा तमाचा है —"दोनों धरम एक होते हैं, दारोगाजी, और शरीफ की जबान भी एक होती है। चाहे कोई भी चला जाए, मगर मैं और मेरे साथी अपने मजहबी हिन्दू भाइयों को छोड़कर हर्गिज नहीं जायेंगे।" (करवट, पृष्ठ-२९६)

'नाच्यौ बहुत गोपाल' में भी हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष को दंगे के रूप में चित्रित किया गया है। इस प्रसंग के साथ एक-दूसरे की बहन-बेटियों तथा बेगुनाहों पर किए गए अत्याचार अमानवीयता का दृश्य उपस्थित करते हैं।

इस प्रकार नागरजी ने अपने संपूर्ण उपन्यास साहित्य में सांप्रदायिकता के संकीर्ण-चिंतन का खुलकर विरोध किया है। अंधविश्वास और धार्मिक कट्टरता को भुलाकर उदार दृष्टिकोण अपनाने पर वे बल देते हैं।

उपन्यासों की भाँति उनकी कहानियों में भी सांप्रदायिक सद्भाव की महत्ता पर बल दिया गया है। १९५४ में लिखित कहानी 'दफीने की खुदाई' वैसे तो मनुष्य की धन लिप्सा एवं अफवाह उड़ाने की प्रवृत्ति पर आधारित है, परन्तु कथा के माध्यम से व्यंग्यात्मक लहजे में हिन्दू-मुस्लिम संप्रदाय के अंधविश्वासों पर चोट की गई है। कहानी से यह भी पता चलता है कि लखनऊ में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति मिली-जुली है और इच्छानुसार एक-दूसरे के आचारों को उपयोग में लाया जा सकता है।

'मोती की सात चलनियां' (१९६१) में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को प्रेम विवाह के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। कहानी यह इंगित करती है कि मजहब या धर्म की कट्टरता पारस्परिक प्रेम भाव को न्यून नहीं कर सकती। डॉ० सुरेन्द्र और डॉ० निगार सुल्ताना अपने प्रेम-विवाह के प्रति दृढ़ हैं और धार्मिक अंधविश्वासों को वे महत्त्व नहीं देते। डॉ० सुरेन्द्र अपने पिता से कहते हैं— "पापाजी हमारे लिए धर्म बदलने की बात ही नहीं उठती। हमें जनम-मरन, शादी वगैरह के लिए किसी मुल्ला या पंडित की जरूरत नहीं। मस्जिद-मंदिर की हमें जरूरत नहीं। ईश्वर को मानते हैं मगर साइन्स की शक्ति में उसे देखते हैं। .....हम भारतीय हैं, इंसानियत के सिद्धांत, ईमानदारी, मेहनत, सच्चाई, दया, करुणा वगैरह जितना कोई भी हिन्दू या मुसलमान मानेगा, उतना ही हम मानते हैं।" डॉ० निगार का चिन्तन और भी व्यापक है। वे कहती हैं, "मैं अपनी पसन्द के एक आदमी से शादी कर रही हूँ, इसमें मजहब का सवाल कहाँ उठता है। हमारे बच्चे हिन्दुस्तानी होंगे। वे अपनी ही किस्म के नये कायदों वाले समाज में पले-बढ़ेंगे, शादियाँ करेंगे।" धर्म और मजहब के संकुचित चिंतन को त्यागकर जिस विराट दृष्टि की प्रस्तुति इस कहानी में की गई है वह रचनाकार की मानवतावादी दृष्टि ही है।

इसी विचारधारा का विकास 'आदमी जाना-अनजाना' में हुआ है। कहानी के अंत में मियाँजी का यह कथन महत्त्वपूर्ण है— 'अंतेपुर वाले महल में मेरे मरने के बाद एक इंटरमीडिएट कॉलेज खोला जाएगा, उसका नाम होगा श्री रामचन्द्र मुस्लिम इंटरमीडिएट कॉलेज। मेरे अवध के हजारों बच्चे वहाँ पढ़ेंगे। अवध का नाम होगा। खुदा खुश होगा।' हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का ऐसा आदर्श अद्भुत और दुर्लभ है।

कौमपरस्त लोगों की दुनिया में आदमीयत को अपना धर्म माननेवाले व्यक्ति की दुर्दशा का सजीव चित्रण 'आदमी नहीं! नहीं' कहानी में मिलता है। पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं— कौमपरस्तों में से एक ने पूछा, "आप कौन हैं?" सुकरात ने कहा "मैं आदमी हूँ।" कौमपरस्त ने डपट कर कहा, "पूरा नाम बतलाओ। आदमी राम या आदमी सिंह या आदमी हुसैन! कौन हो तुम?"

सुकरात को बाबू का नाम बताना याद आ गया। चट से कहा, "मेरा नाम रामसिंह हुसैन आदमी है।"

कौमपरस्तों का खून उबल पड़ा। लाल आँखें करके वे लोग महर्षि की तरफ बढ़े। किसी ने उसकी दाढ़ी खींची, किसी ने गर्दन नापी। जोशीले कौमपरस्तों ने महर्षि को अचार के घड़े की तरह पकड़-पकड़ कर हिलाना शुरू कर दिया, और पूछने लगे "बोल बुड्ढे! बोल साले! तेरा धरम मजहब कौन सा है?"

इतनी दुर्गत होने पर भी महर्षि टस से मस न हुए, कहते ही रहे, "मैं आदमी हूँ, आदमी हूँ, आदमी हूँ। मेरा धर्म आदमीयत है। मैं सत्य का मार्ग नहीं छोड़ूँगा।" महर्षि की यह जिद, उनका धर्म और उनकी जाति सुनकर कौमपरस्त बड़े चकराए। हारकर उन्होंने महर्षि का गला छोड़ दिया। उनका बैर तो हिन्दू, सिख, मुसलमान नामों में एक दूसरे के अपरिचय, पराएपन, शंका तथा भय से था।

१९ पृष्ठों तथा ७ उपशीर्षकोंवाली इस कहानी के 'हमशरीफ' उपशीर्षक के अंतर्गत सुकरात का यह कथन कितना अर्थगर्भ है— "तुम आदमी हो। हिन्दू, सिख, मुसलमान या कोई भी धर्म, देश और नाम से तुम बदल नहीं जाते। औरतें और बच्चे भी तुम्हारे ही हैं। फिर किसे मारोगे? किससे बदला लोगे? खुद अपने से ही?"

कहानीकार ने बड़े प्रभावशाली ढंग से यह सिद्ध करना चाहा है कि किसी भी धर्म, जाति, संप्रदाय, कौम का जीवन क्षणभंगुर है परन्तु मनुष्यत्व अमर है— "हिन्दू मर सकता है, यहूदी, पारसी, ईसाई, जैन, बौद्ध मर सकते हैं, हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी, चीनी, जापानी, ईरानी, रूसी, अमरीकी, फ्रांसीसी, जर्मन, यूनानी, अंग्रेज हर कौम मर सकती है, हर मजहब मर सकता है, मगर आदमी नहीं! नहीं!! नहीं!!!"

परन्तु विनाश के भीषण व्यापार के बीच आदमी की मौत भी अवश्यंभावी लगने लगती है। यहीं पर लेखकीय आस्था अपना प्रभाव दिखाती है। कहानी की ये पंक्तियाँ स्वतः स्पष्ट हैं—

ब्रह्मलोक जाते हुए महर्षि सोचने लगे "क्या आदमी सचमुच मर जायेगा?" सुकरात ने फिर झांककर दुनिया की तरफ देखा : अभी भी दुनिया इन्सानियत के हामियों से भरी है। अभी भी बच्चों की किलकारियाँ कहीं से सुनाई पड़ जाती हैं। अभी भी समझ और मानवता का पूर्ण रूप से बहिष्कार नहीं हुआ। एक ओर जहाँ दंगे हैं, वहाँ दूसरी ओर उन दंगों को रोकनेवाले शांतिदूत भी हैं। मनुष्य की मनुष्यता अभी भी अपनी अंतिम विजय में विश्वास रखती है। मनुष्य क्रमशः जीवन का स्वामी बनने जा रहा है। ऐसा मनुष्य भला कभी मर सकता है?"

इस प्रकार कहानीकार ने आस्था के आलोक को जिजीविषा की ज्योति से सम्पृक्त कर मंगलकारी मानवतावाद की प्रतिष्ठा की है। वास्तव में अमृतलाल नागर के संपूर्ण कथा साहित्य का यही सूत्र है। ●

अमृतलाल नागर के निबंधों में साम्प्रदायिक सद्‌भाव के स्वर

कोई भी कथाकार अपनी विचारधारा अपने पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। इस अभिव्यक्ति के क्रम में कहीं-कहीं कोई सामान्य-सा पात्र बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कह देता है तो कोई विशिष्ट पात्र अपने कमजोर क्षणों में सतही विचार प्रकट कर देता है। ऐसी दशा में विशिष्ट या सामान्य पात्र के मुँह से निकली हुई उक्ति को लेखकीय दृष्टि के रूप में स्वीकृत कर लेना संगत नहीं होता। कथा प्रसंग में कथाकार को जहाँ-जहाँ अपने विचार प्रकट करने के अवसर मिलते हैं, वह अपने विचारों को प्रस्तुत करता चलता है। इन विचारों के साथ श्रेष्ठ पात्रों की अभिव्यक्ति से तारतम्य बैठाकर पाठक अपने विवेक से कथाकार की जीवन दृष्टि की जानकारी प्राप्त कर लेता है। नागरजी के उपन्यासों एवं कहानियों में इसी पद्धति द्वारा उनकी असांप्रदायिक जीवन दृष्टि का अवलोकन किया जा सकता है।

परन्तु उनकी असांप्रदायिक चेतना के अध्ययन का सहज साधन उनके निबंध भी हो सकते हैं। प्रख्यात कथाकार नागरजी ने कई निबन्ध भी लिखे हैं जो उनकी पुस्तक 'साहित्य और संस्कृति' में संकलित हैं। इस कृति के कुछ निबंधों में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम सद्‌भाव पर विशेष बल देते हुए बिना किसी लाग-लपेट के दृढ़ शब्दों में अपने विचार प्रकट किए हैं।

'युगप्रवर्तक प्रेमचन्द' (पृष्ठ-२५) शीर्षक निबंध में हिन्दू शब्द की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं : "हिन्दू या हिन्दी शब्द हमारे पुरखों को विदेशियों से ही मिले थे। इन शब्दों में हमारे पुरखों ने भारत या हिन्दुस्तान की एकता को ही पहचाना। हिन्दुत्व का अर्थ राष्ट्रीयता था और राष्ट्रीयता शब्द अपनी सीमित जातीय परिभाषाओं को छोड़कर एक महाजाति की विराट और व्यापक सांस्कृतिक एकता का सूचक शब्द बन गया था।"

इसी लेख में उन्होंने इस्लाम और मुसलमानों के बारे में लिखा है, "मुसलमान धर्म तब तक इस देश में एक नई स्थिति पा चुका था। इस्लाम धर्म माननेवाले एक नहीं कई देशों के व्यक्ति इस देश में आये। उनमें आपस में धार्मिक एकता रही; किन्तु

सांस्कृतिक और राजनीतिक विभिन्नता भी रही। हिन्दू देश में आकर उन्होंने तलवार के जोर से अनेक व्यक्तियों को मुसलमान बनाया। ..... मुसलमान अंग्रेजों से हारे थे, इसलिए उनके दुश्मन थे। हिन्दू पहले मुसलमानों से फिर अंग्रेजों से हारे थे, इसलिए दोनों से खार खाते थे। मुसलमानों से चूँकि इतनी सदियों का लगाव था पीढ़ियों से पास-पड़ोसी हो चुके थे इसलिए दोनों को अब एक राष्ट्रीयता का अनुभव कहीं पर होता था। हिन्दू मुसलमान अलग थे और एक थे, यह मजबूरी हमारे इतिहास में अपनी परिस्थितियाँ सँजोते हुए हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में प्रस्फुटित हो गई।"

'साहित्य एवं संस्कृति' में संकलित एक महत्त्वपूर्ण निबंध है— 'समस्या हिन्दी-उर्दू'। नागरजी ने भाषा संबंधी विचारों को बड़ी स्पष्टता के साथ इस निबन्ध में प्रस्तुत किया है— "मुझे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि किसी मज़हब से द्वेष नहीं। मैं अनुभव से भी यह जानता हूँ कि सच्चा हिन्दू या सच्चा मुसलमान, कोई भी सद्धार्मिक किसी दूसरे का बुरा हरगिज नहीं सोच सकता। मुझे पोलिटिकल हिन्दू-मुसलमानों से नफरत है, इसलिए हिन्दी, उर्दू के मसले को जब फिरकेवराना सवाल बनाकर उठाया जाता है तो सात्विक क्रोध से भर उठता हूँ।" नागरजी ने हिन्दी-उर्दू की समस्या को किसी राजनेता की वोट-लोलुप दृष्टि से न देखकर एक साहित्यकार की स्पष्टवादी नजर से देखा है। तभी तो वे कहते हैं— 'एक झूठ पर नित नए झूठों के गिलाफ चढ़ाए जाते हैं और कुछ नहीं तो 'नेशनल इण्टीग्रेशन' के नाम पर, अगले मध्यावधि चुनाव में वोटों की सौदेबाजी करने के लिए उसे फिर मादरी-जबान और दूसरी जबान का दरजा दिलाने के लिए हवा बाँधी जा रही है। मुझे लगता है कि इससे साम्प्रदायिकता अधिक भड़केगी —इससे देश के एक नये विभाजन का सूत्रपात भी होगा।"

इसी क्रम में नागरजी ने अवसरवादियों की करतूतों के प्रति अपना गहरा रोष प्रकट किया है— "मुझे उन पोलिटिकल हिन्दुओं से भी सख्त शिकायत है जो मौका पड़ने पर तो उर्दू को अपनी भाषा की शैली कहते नहीं थकते पर जहाँ कहीं जरा भी दाँव पाया, वहीं वे 'मुसल्टों' की उर्दू का नाम-निशान मिटाने में ही अपने हिन्दुत्व की शेखी समझने लगते हैं। मुझे यह अनुचित लगता है। उर्दू अगर हिन्दी की शैली है तो हमारे साहित्य का इतिहास दोनों शैलियों में लिखे गए साहित्य का इतिहास होना चाहिए। देव, बिहारी, गालिब और जिगर के प्रति हमारे श्रद्धाभाव में अंतर नहीं होना चाहिए।" परन्तु भाषा के मसले को लेकर—राष्ट्रीय विघटन और सांप्रदायिकता का खतरा दिखाकर हिन्दी को दबाए जाने की कुचेष्टा के नागरजी प्रबल विरोधी रहे हैं। १९६८ में लिखे अपने इस लेख में उन्होंने बड़ी दृढ़ता से अपने विचार व्यक्त किए हैं— "इधर मैंने दो-तीन अखबारी और पोलिटिकल प्रकार के बौद्धिकों को यह कहते सुना है कि हिन्दी की

बात को फिलहाल नहीं उठाना चाहिए क्योंकि इसी के कारण राष्ट्रीय विघटन और सांप्रदायिकता के तत्त्व उभरे हैं। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ। इस झूठी आड़ को लेकर हिन्दी (हिन्दी-उर्दू) तथा अन्य भारतीय भाषाओं को अब अधिक दबाया न जा सकेगा। समस्त भारतीय भाषाओं के साथ हिन्दी अन्ततोगत्वा प्रतिष्ठित होकर ही रहेगी। राष्ट्र की समग्रता या इंटीग्रेशन, इसके बिना हो ही नहीं सकता।"

जन्मजात धार्मिक संस्कारों और आस्था के बावजूद अपने साहित्यिक कर्म से नागरजी ने यह प्रमाणित किया है कि उनके लिए मानवता से बड़ा कोई धर्म नहीं है। इसीलिए धर्म उनके लिए कभी सांप्रदायिकता से जुड़ा हुआ नहीं रहा। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे अपने को प्रगतिशील सिद्ध करने के लिए किसी दूसरे संप्रदाय की हर चेष्टा को या राजनेताओं के सियासी खेल को यथावत् स्वीकार करते रहे हों। अपनी साफगोई के कारण उन्हें अपने प्रगतिशील मित्रों का कोपभाजन भी बनना पड़ा। अपनी मृत्यु के पूर्व ७ फरवरी ८९ के एक पत्र में अपने परमप्रिय मित्र डॉ० रामविलास शर्मा को वे लिखते हैं— " 'भारत-भारती' पुरस्कार के लाख, दिल्ली के आज के प्रगतिशील महात्माओं को खल गए। 'पांचजन्य' की किसी भेंटवार्ता में मेरे नाम से कुछ अनाप-शनाप वाक्य निकल गए थे, उनका आधार लेकर इन दिनों ऐसा बावेला मचाया गया है कि क्या कहूँ। खैर! मुझे उसकी चिंता नहीं, फूँक से पहाड़ नहीं उड़ाया जा सकता है।"

नागरजी की सुविचारित धारणा रही है कि 'रामजी को सेकुलरिटी और संप्रदाय की रस्सी से नहीं बाँधा जा सकता। रामजी इस देश की संस्कृति हैं। यहाँ के राष्ट्र-पुरुष हैं। रामजी के बिना भारत-राष्ट्र का कोई मतलब ही नहीं है। किसी देश के राष्ट्र-पुरुष का, उसकी सांस्कृतिक परंपरा के प्रतिनिधि का अपमान हो, उसकी प्रतिमा को द्वेष और शत्रुभाव से हटाने का प्रयास किया जाय और उसके भक्त, उसके प्रति श्रद्धा रखनेवाले लोग उस अराष्ट्रीय कार्य को मौन भाव से देखते रहें तो यह उनकी नपुंसकता नहीं तो और क्या है? मैं तो इसे कायरता ही कहूँगा, वीरता या उदारता नहीं। जिसको बावेला मचाना हो वह बावेला मचाए। फूँक से पहाड़ नहीं उड़ाया जा सकता। मैं अपने रामजी को नहीं छोड़ सकता। मैं संस्कृति को संप्रदाय नहीं बनने दूँगा। हमारी संस्कृति को संप्रदाय बनाने की साजिश की जा रही है।" (संदर्भ : पांचजन्य ११ मार्च १९९०)

इस या उस संप्रदाय के तुष्टीकरण के लिए लेखक छद्म सेक्युलरवादी जामा ओढ़े बिना अपने विवेक से जो विचार उपस्थित करता है उसमें गलत को गलत और सही को सही कहने की दृढ़ता है। इसी भेंट वार्ता का यह अंश दृष्टव्य है— "गलत बात तो गलत है। मैं गलत को सही और सही को गलत कभी नहीं कहूँगा। चाहे मेरा

गला दबा दो, मैं तब भी सही को सही कहूँगा। मैं आस्तिक व्यक्ति हूँ। मैंने पहले भी कहा कि रामजी मेरे इष्टदेव हैं। अब कोई मेरे गले पर छुरी रखकर भी कहे कि राम तेरे आराध्य नहीं हैं, तो मैं कैसे मान लूँगा उसकी बात। मेरे अटूट विश्वास को कोई नहीं बदल सकता। नागर की अयोध्या कभी नहीं टूटी। आजतक नहीं टूटी। कोई बाबर, कोई आततायी, कोई कठमुल्ला मेरी अयोध्या को नहीं तोड़ पाया, न तोड़ सकता है।"

नागरजी ने सांस्कृतिक आदान-प्रदान की महत्ता स्वीकार की है। इस भेंटवार्ता के अंतिम अंश में उनके विचार हैं— "मुसलमानों की संस्कृति में से बहुत सी चीजें हम लेंगे। संस्कृति किसी की बपौती नहीं होती। पर धर्म? जो धारण करने योग्य है वह धर्म है। मानव मूल्यों से जुड़ा रहना ही धर्म है। जो मजहब को रूढ़िवाद से चिपकाए रखते हैं, जो इस धारणा को सामने रखकर देश को छोटा मानते हैं, उनकी इस चेतना से जरूर हमें कहीं-न-कहीं पर टक्कर लेनी होगी।"

नागरजी ने अपनी स्पष्टवादिता से अपने प्रगतिशील मित्रों को भले ही नाराज किया हो, या इस 'भेंटवार्ता' के कुछ अंश विद्वानों के एक वर्ग को भले ही 'हिन्दूपरक' अधिक लगते हों परन्तु यह बात बिना हिचक के स्वीकार की जानी चाहिए कि अमृतलाल नागर ने समस्या के संदर्भ में अपने तेजस्वी विचारों को उन्मुक्त भाव से प्रकट किया है। यह भी समझ लेना चाहिए कि ये विचार उनकी सांप्रदायिक सद्भाव की मूल चेतना को किसी भी रूप में आहत नहीं करते। उनका समग्र कथा साहित्य इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू-मुस्लिम संप्रदाय के आपसी भाईचारे को बढ़ाने के लिए उनका रचनाकार सदैव सजग रहा है।

लेखकों के एक वर्ग की अपनी मान्यताएँ हो सकती हैं, अपने पूर्वाग्रह हो सकते हैं, सिद्धांत-विशेष के प्रति निष्ठा हो सकती है— परन्तु सहज मानवीय धरातल पर कोई भी साहित्यकार (किसी सम्प्रदाय या समुदाय का सदस्य होते हुए भी) सम्प्रदायवादी नहीं होता, संप्रदाय या समुदाय निरपेक्ष होता है। लेखकीय विचारों की सम्यक् व्याख्या करते समय उसका विवेचन कभी-कभी एकपक्षीय लग सकता है, उसकी दृष्टि में पक्षपात का आभास हो सकता है, परन्तु यह प्रतीति वास्तविक नहीं होती। संपूर्ण विवेचन में लेखक की संतुलित दृष्टि संकुचित दायरे से बाहर निकलकर विराट मानव कल्याण की भूमिका में उतरकर उसे महत्तर बनाती है। नागरजी के साहित्य में उनकी असांप्रदायिक चेतना को इसी आधार पर समझना चाहिए। इस संदर्भ में प्रख्यात कथाकार भीष्म साहनी का कथन पूर्णतः संगत है—

"साहित्य का सरोकार तो मानव स्थिति से होता है और लेखक उसी को अपने ढंग से अभिव्यक्ति देने की कोशिश करता है। इस बात को मद्देनज़र रखते हुए हम कह

सकते हैं कि साहित्य निर्वैक्तिक होता है, उसका अपना कोई रंग नहीं होता। .....साहित्य तो प्रकृति में पाये जाने वाले मूल तत्त्वों की तरह है जो किसी समुदाय विशेष के लिए नहीं, बल्कि सार्वभौमिक होते हैं। यदा-कदा उसका वर्गीकरण हम अपनी सुविधा के लिए कर लेते हैं ताकि उसको इस या उस संदर्भ में बेहतर ढंग से समझ सकें।" (अपनी बात/साहित्य मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है। /पृष्ठ-१३४)

प्रेमचंद ने साहित्य को राजनीति के पीछे चलनेवाली सच्चाई नहीं बल्कि उसके आगे मशाल लेकर चलनेवाली सच्चाई बताया है। आज के विषैले सांप्रदायिक और जातीय विद्वेष के अँधेरे में साहित्य की यह मशाल ही समाज को समुचित पथ दिखा सकती है। आशा की जानी चाहिए कि सत्य, न्याय और मानवता की यह ज्योति प्रत्येक भारतवासी को वह शक्ति प्रदान करेगी जिससे समाज की विभेदकारी शक्तियों से दृढ़तापूर्वक मुकाबला किया जा सकेगा। ●

आस्था का अखंड आलोक

नागर जी नहीं रहे। खबर सुनकर अचानक याद आ गई १३ दिसम्बर १९८० की एक मुलाकात। उनके चौक (लखनऊ) स्थित आवास पर प्रातः जब मैं पहुंचा तब उन्होंने अपने एक मित्र को पत्र लिखकर समाप्त किया था। इस पत्र की पंक्तियाँ उन्होंने मुझे भी सुनाईं। पत्र में मृत्यु के रूप में राम-कृपा की आकांक्षा की गई थी। उनकी अनुमति लेकर उस पत्र की पंक्तियाँ उतार लाया था। वे पंक्तियाँ यथावत् प्रस्तुत हैं— "किसी अलक्ष्य पीड़ा और कुण्ठा से मन छटपटा रहा है। यह पीड़ा यह छटपटाहट क्यों है इसके संबंध में कुछ कह नहीं सकता। राम जब बोधोदय करेंगे तभी कदाचित भेद खुलेगा। कब कृपा करेंगे यह नहीं जानता। कृपा का एक रूप मरण भी हो सकता है। चकबस्त याद आते हैं—

फना का होश आना जिंदगी का दर्देसर जाना
अजल क्या है खुमारे बाद ये हस्ती उतर जाना।

अपने उपन्यासों में जिजीविषा की ज्योति प्रज्ज्वलित करनेवाले उपन्यासकार की मृत्यु की कामना आश्चर्यजनक लगती है। 'एक दिन तो जाना ही है बन्दे' शीर्षक लेख में नागरजी ने स्व० संपूर्णानन्द की पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए लिखा था— "मौत का लोक ऐसा है जहाँ सूर्य नहीं है, अंधेरा ही अंधेरा है। 'निशीथ से आवृत निशीथ, तमिस्रा से व्याप्त तमिस्रा'। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, जुगनू का प्रकाश का कहीं स्रोत नहीं। वहाँ प्रकाश को देखने वाला भी कोई नहीं। जीव के पास आँखें तो हैं नहीं, न हाथ-पैर है। वह तो अँधेरे का कण बना हुआ रम रहा है। गतिशीलता का आभास उसे अपने विचारों संस्कारों के द्वारा ही हो रहा है .....होता होगा। 'देखेंगे तब कहेंगे, अब ही कहा न जाय'। किन्तु क्या भला तब वह अनुभव करने लायक हम रह भी पायेंगे।" (टुकड़े-टुकड़े दास्तान, पृष्ठ १४१-१४२)

अपने संघर्ष भरे जीवन में नागरजी ने अनेक बार ऐसी पीड़ा अवश्य भोगी होगी जब उन्हें अपना जीवन निरर्थक लगने लगा होगा। कठोर स्थितियों ने उन्हें 'अमृत और विष' के अरविन्दशंकर की भाँति आत्महत्या करने तक की बात सोचने को भी अवश्य विवश किया होगा— "मेरी अनन्त कुंठाओं को समाप्त करने का बस एक ही उपाय है,

वही जो मेरे पिता ने किया था, आत्महत्या।" नागरजी के कई पात्रों का आत्महत्या करना या इस बारे में विचार करना लेखक की इसी मनःस्थिति का परिचायक है। अपने लेख में नागरजी ने मृत्यु के स्वप्न की चर्चा की है, गालिब की पंक्ति 'और गर मर जाइये तो नौहख्वाँ कोई न हो' का उल्लेख किया है तथा रहीम के दोहे 'माटी खाय जनावरां महा महोच्छव होय' का उद्धरण दिया है। नागरजी का सुचिंतित मत है ".....मौत की चिंता करना ठीक नहीं। मौत एक हकीकत है; मगर जीवन (कर्म) रत जीवन का एक-एक क्षण भी हकीकत है। मौत की भावुकता-भरे दर्शन प्रवाह में हम भला यह बात क्यों भुला दें।"

मृत्यु की वास्तविकता का नागरजी को पूरी तरह आभास रहा है— "विदा तो खैर होना ही है एक न एक दिन। आया है सो जायेगा राजा रंक फकीर। तमान रिश्ते-नाते, प्रेम और ईर्ष्या-घृणादि के सारे के सारे द्वन्द्व, जीवन को गतिशीलता देनेवाली महत्त्वाकांक्षायें और कामनायें—सब धरी की धरी रह जायेंगी। बकौल शायर— "दुनिया के जो मजे हैं हरगिज वो कम न होंगे, चर्चे यहीं रहेंगे अफसोस हम न होंगे।" (टुकड़े-टुकड़े दस्तान, एक दिन तो जाना ही है बन्दे, पृष्ठ १४१)

अन्य स्थान पर नागरजी ने लिखा है— "मैं उस चींटी की तरह हूँ, जो बार-बार गिरने के बावजूद चढ़ती है। हार-जीत की बाजी प्राणों को उमंग देकर लड़ाती है, पर हार अब उतना निराश नहीं करती। .....अब तो यह जानता हूँ कि आत्महत्या कर नहीं सकता इसलिए नियत आयु तक जीना है। काम न करूँ तो जियूँ कैसे।" नागरजी की मान्यता रही है कि जीवन-जगत की यंत्रणाओं और आशंकाओं में कर्मठ होकर ही विजयी हुआ जा सकता है, पलायन से नहीं।

तात्पर्य यह है कि असीम आस्था और जिजीविषा का संदेश देनेवाले नागरजी मृत्यु के भय से आतंकित मनुष्यों को भयमुक्त करने की शक्ति प्रदान करते हैं और जीवन से पलायन करनेवाले व्यक्ति को जीवन में ही संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं। निराशा, अनास्था तथा मृत्यु के घोर तिमिर में जिजीविषा और आस्था की भावना जागृत करना उपन्यासकार अमृतलाल नागर का मुख्य ध्येय रहा है।

नागरजी यह मानते रहे हैं कि जीवन को विकसित करने के लिए आस्था और जिजीविषा की आवश्यकता है। अनास्था जीवन को विकासोन्मुख नहीं कर सकती। अनास्थावादी व्यक्ति अंधकार में विचरण करता है और जीवन संग्राम में पराजित होता रहता है। आस्था के प्रहरी के रूप में नागरजी ने अपने सभी उपन्यासों में मानवतावादी मूल्यों की स्थापना की है।

कविता को छोड़कर साहित्य की सभी विधाओं पर नागरजी ने अपनी लेखनी

चलाई है परन्तु वे उपन्यासकार के रूप में ही हिन्दी साहित्य में समादृत रहे हैं। उनका प्रथम उपन्यास 'भूख' १९४६ में प्रकाशित हुआ था और अंतिम उपन्यास 'पीढ़ियाँ' १९९० में। इन दोनों उपन्यासों के बीच लगभग ४४ वर्षों में उन्होंने कुल १५ छोटे बड़े उपन्यासों की रचना की है, जिनकी सूची इस प्रकार है— भूख, सेठ बाँकेमल, बूँद और समुद्र, शतरंज के मोहरे, सुहाग के नूपुर, अमृत और विष, सात घूँघटवाला मुखड़ा, एकदा नैमिषारण्ये, मानस का हंस, नाच्यौ बहुत गोपाल, खंजन नयन, बिखरे तिनके, अग्निगर्भा, करवट और पीढ़ियाँ।

मृत्यु के घोर अंधकार में जीवन का आलोक प्रदान करने वाला उनका प्रथम उपन्यास 'भूख' उनकी आस्थावादी दृष्टि को प्रतिपादित करता है। इस आलोक को उन्होंने विपरीत और कठिन स्थितियों में भी प्रज्ज्वलित रखा है। यही आस्था मनुष्य को भूख, मृत्यु तथा सामाजिक वैषम्य से लड़ते रहने का साहस देती है। मृत्यु के विस्तृत साए में जीवन के संकेत देकर नागरजी ने अपने पहले उपन्यास में ही अपनी विशिष्ट पहचान बना ली थी।

आस्था का यह स्वर 'बूंद और समुद्र' के अंत में भी लेखक ने इन शब्दों में व्यक्त किया है— "मनुष्य का आत्म विश्वास जागना चाहिए, उसके जीवन में आस्था जागनी चाहिए। मनुष्य को दूसरे के सुख-दुख में अपना सुख-दुख मानना चाहिए। विचारों में भेद हो सकता है, विचारों के भेद से स्वस्थ द्वन्द्व होता है और उससे उत्तरोत्तर उसका समन्वयात्मक विकास भी। पर शर्त यह है कि सुख-दुख में व्यक्ति का व्यक्ति से अटूट संबंध बना रहे— जैसे बूंद से बूंद जुड़ी रहती है— लहरों से लहरें। लहरों से समुद्र बनता है—इस तरह बूंद में समुद्र समाया है।" इस कथन में बूंद तथा समुद्र के माध्यम से व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रित संबंध की महत्ता प्रतिपादित की गई है। इसी उपन्यास में नागरजी ने बाबा रामजी नाम के एक पात्र का चित्रण किया है। वास्तव में बाबा जी वास्तविक जीवन से लिए गए हैं। नागरजी अपने जीवन में जौनपुर निवासी कर्मयोगी बाबा रामजी से बहुत प्रभावित रहे हैं। उनके विचार तथा जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति नागरजी के कई उपन्यासों में हुई है।

चर्चित उपन्यास 'अमृत और विष' के अरविंद शंकर की यह उक्ति इस संदर्भ में प्रस्तुत की जा सकती है— "जड़ चेतनमय, विष-अमृतमय, अंधकार-प्रकाशमय जीवन में न्याय के लिए कर्म करना ही होगा। यह बंधन ही मेरी मुक्ति भी है। इस अंधकार में ही प्रकाश पाने के लिए मुझे जीना है।"

बाबा रामजीदास की मानव-सेवा भावना ने उनकी कर्मठ आस्था को नया आयाम दिया है। नागर जी के स्वस्थ सामाजिक चिन्तन, व्यापक जीवनानुभव तथा

सजग सामाजिक चेतना ने मानव मन की आशा-निराशा, हर्ष-विषाद को वाणी दी है। वास्तव में उनके संपूर्ण उपन्यास साहित्य में जीवन-मृत्यु, ज्ञान-अज्ञान, आस्था-अनास्था, प्रकाश-अंधकार, जय-पराजय का संघर्ष चित्रित हुआ है। 'शतरंज के मोहरे' के संन्यासी का संकेत अंधकार से प्रकाश की यात्रा का है— "रात के बाद दिन अवश्य आता है। मैं उसी उजाले की बाट में बैठा हूँ।" नागरजी के उपन्यास 'करवट' में भी साधु बाबा मृत्यु के महालोक में साक्षात् जीवन तक पहुँचने का सन्देश देते हैं।

नागरजी ने 'बूंद और समुद्र' में लिखा है— "आत्मा ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश है। ब्रह्मा के रूप में वह अनुभव की सृष्टि करता है, विष्णु के रूप में वह अपनी सृष्टि की श्री को ग्रहण करता है और शिव के रूप में निष्काम योगी बन सर्जन और पालन के अहंकार का नाश करता है। .....हम तो आत्मा के शिव रूप में श्रद्धा रखते हैं।" शिवरात्रि के पवित्र दिन नागरजी के देहावसान ने बाबा रामजी की इसी उक्ति को चरितार्थ किया है।

२३ फरवरी १९९० को काल के क्रूर आघात ने नागरजी को भले ही 'है' से 'था' कर दिया हो परन्तु अपनी विशिष्ट कृतियों के साथ वे सदैव हमारे बीच रहेंगे। कवि कृष्ण बिहारी 'नूर' की पंक्तियाँ याद आ रहीं हैं—

अपनी रचनाओं में वो ज़िन्दा है
'नूर' संसार से गया ही नहीं।

कथाकार की पंक्तियाँ उनके देहावसान पर हमें सांत्वना दे रही हैं—

"जन्म-मृत्यु प्रकृति का नियम है। जन्म की खुशी और मृत्यु का शोक सदा से समाज का व्यक्तिगत व्यापार रहा है और रहेगा भी। समय शोक को कम कर देता है।" (बूंद और समुद्र)

"काल अबाध है और पृथ्वी विपुल —मेरा कोई समान-धर्मा मेरे काम को समझ-सराहकर उसे अवश्य ही आगे बढ़ायेगा।" (टुकड़े-टुकड़े दास्तान/ एक दिन तो जाना ही है बंदे/ पृष्ठ १४३)

नागरजी की विश्वासभरी ये पंक्तियाँ सार्थक हों इसी आशा से कथा-साहित्य की विशिष्ट विभूति को भावपूरित-श्रद्धांजलि। ●

धरती की सोंधी सुगंध : त्रिलोचन

'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' शीर्षक निबंध में मुक्तिबोध ने लिखा है, "आज ऐसे कवि चरित्र की आवश्यकता है जो बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए, सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे, उनके संचित जीवन विवेक को स्वयं ग्रहण करे तथा उसे और अधिक निखारकर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज को उन्हें लौटा दे।" (मुक्तिबोध रचनावली, खंड-५, पृष्ठ-१९७)

इन पंक्तियों में मुक्तिबोध ने जिस कवि चरित्र की आवश्यकता की ओर संकेत किया है उसके सर्वाधिक सशक्त और सटीक उदाहरण त्रिलोचन ही हो सकते हैं, क्योंकि हिन्दी कविता की संघर्षशील परम्परा का निर्माण करने वाले आधुनिक कवियों में वे अन्यतम हैं। उनकी मान्यता है—

हिन्दी की कविता, उनकी कविता है जिनकी
साँसों को आराम नहीं था, और जिन्होंने
सारा जीवन लगा दिया कल्मष को धोने
में समाज के।
भाव उन्हीं का सबका है जो थे अभावमय,
पर अभाव से दबे नहीं जागे स्वभावमय

('दिगंत' संग्रह की 'अपराजेय' शीर्षक कविता)

मतवादी घेरे से मुक्त हिन्दी की प्रगतिशील यथार्थवादी काव्यधारा के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कवियों में नागार्जुन और त्रिलोचन की गणना की जाती है। इन कवियों की जो व्यापक लोकप्रियता है उसके मूल में दोनों की मानवतावादी दृष्टि ही है। तभी तो एक को 'जनकवि' और दूसरे को 'जनपद का कवि' कहा जाता है। ये कवि संघर्ष का वर्णन मात्र दर्शक बनकर नहीं करते बल्कि उसके हिस्सेदार होकर उसकी व्याख्या करते हैं। इनमें साधारण चरित्रों को भी असाधारण बनाने की क्षमता है।

जनपद का सामान्य अर्थ जिले से लगाया जाता है। परन्तु इस अर्थ के आधार पर त्रिलोचन को केवल एक जिले विशेष का कवि ठहराये जाने का भ्रामक निष्कर्ष अनुचित है। अपने जन्म जनपद सुलतानपुर की विशिष्टताओं और विरूपताओं को

भली-भाँति जानते हुए पूर्ण स्वाभिमान के साथ खुद को उस जनपद से जोड़कर कवि त्रिलोचन अपना परिचय देते हैं और निःसंकोच भाव से कहते हैं—

उस जनपद का कवि हूँ जो भूखा दूखा है,
नंगा है, अनजान है, कला नहीं जानता
कैसी होती है, क्या है, वह नहीं मानता-
कविता कुछ भी दे सकती है।

'उस जनपद का कवि हूँ' काव्य ग्रंथ की इसी शीर्षक के अंतर्गत लिखी ये पंक्तियाँ बड़ी सहजता से यह बता रही हैं कि 'दुनिया चाहे कहाँ से कहाँ' पहुंच गई हो, कवि का जनपद अत्यंत पिछड़ा हुआ है। कृति की कुछ कवितायें स्वयं कवि पर केन्द्रित हैं जिनमें आत्मभर्त्सना के स्वर में वह अपने बारे में बिना किसी लाग-लपेट के कहता है—

वही त्रिलोचन है, वह-जिसके तन पर गन्दे
कपड़े हैं। कपड़े भी कैसे फटे लटे हैं।

और यह भी—

चीर भरा पाजामा, लटलटकर, गलने से
छेदोंवाला कुर्त्ता, रूखे बाल, उपेक्षित
दाढ़ीमूँछ, सफाई कुछ भी नहीं अपेक्षित

यह चित्र केवल त्रिलोचन का ही नहीं है जनपद के उस सामान्य जन का भी है जो संघर्ष और पीड़ा की घुटनभरी जिन्दगी जी रहा है। परन्तु इस जीवन से वह पराजित नहीं होता, लड़कर अपना रास्ता तैयार करता है। कवि ने ऐसे ही लोगों को अपना नायक बनाया है—

जिन लोगों ने संघर्षों में कभी हार को हार न माना
लड़ते रहे परन्तु कभी भी मृत्यु प्रहार प्रहार न माना
जिनके अप्रतिहत साहस की क्षण-क्षण लिखते रहे कहानी
मैं सगर्व सोल्लास निरंतर उन लोगों के गुण गाता हूँ।

('धरती' संग्रह से)

धरती की सोंधी सुगंध के साथ स्थानीय भाषा अवधी की रंगत त्रिलोचन की कविता में यत्र-तत्र देखी जा सकती है। इस अर्थ में जनपदीयता उनकी सीमा नहीं, उनकी शक्ति है। कवि का वर्ण्य विषय है संघर्षरत समाज-चेतना, उद्देश्य है नवीन आशा-आकांक्षा और माध्यम है चित्रमयी नयी भाषा। कवि कहता है—

लड़ता हुआ समाज नई आशा अभिलाषा
नये चित्र के साथ नई देता हूँ भाषा।

भाषा के प्रति त्रिलोचन की सजगता सर्वविदित है। भाषा की विविध भंगिमाओं से वे पूरी तरह परिचित हैं इसीलिए उनकी कविताओं में भाषा के कई स्तर कई अर्थों के साथ दिखाई देते हैं। बोलचाल की भाषा को यथावत् स्वीकार कर अपनी कविता में वे इस तरह ढाल लेते हैं कि किसी भी शब्द को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे शब्द को रखना असंभव हो जाता है। अवध क्षेत्र का कवि होने के कारण अवधी के प्रति उनका लगाव भी उन्हें 'जनपद का कवि' सिद्ध करता है। ठेठ अवधी से लेकर उसके परिमार्जित रूप तक के समस्त शब्दों, पदों एवं क्रियाओं की उन्हें भरपूर जानकारी है और इन सबका प्रयोग वे केवल अपनी अवधी रचनाओं में ही नहीं, खड़ी बोली की कविताओं में धड़ल्ले से करते हैं। यही कारण है कि त्रिलोचन को सही ढंग से समझने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में बोली जाने वाली किसानों की आम-भाषा पूर्वी अवधी की भी जानकारी आवश्यक है। कवि ने भाषागत जो भी सिद्धि प्राप्त की है उसके लिए वह तुलसीदास का ऋण स्वीकार करता है—

तुलसी बाबा भाषा मैंने तुमसे सीखी/मेरी सजग चेतना में तुम रमे हुए हो

कवि के लिए भाषा की महत्ता सर्वोपरि है। उसके अनुसार *'सब कुछ, सब कुछ, सब कुछ, सब कुछ भाषा'।*

त्रिलोचन भाषा को साहित्यिक बनाने या लालित्य संपन्न करने का कतई प्रयास नहीं करते। ऐसी नकली भाषा का प्रवेश उनकी कविताओं में वर्जित है। बनावटी या बोझिल भाषा के विपरीत जन-सामान्य द्वारा बोली जाने वाली भाषा को उसी रूप में स्वीकृत कर अपनी शब्द साधना से चमत्कार उत्पन्न करना उन्हें खूब आता है। 'उस जनपद का कवि हूँ' के एक सॉनेट में कवि ने ऐसी ही इच्छा प्रकट की है—

यह तो सदा कामना थी इस तरह से लिखूँ
जिनपर लिखूँ वही यों अपने स्वर में बोलें।

'नगई महरा', 'चंपा काले-काले अच्छर नहीं चीन्हती', 'भोरई केवट के घर' शीर्षक कविताओं में नायक अपनी पूरी स्वाभाविकता के साथ उपस्थित होते हैं और सहजता में ही विशिष्टता का आभास करा देते हैं।

द्रष्टव्य हैं 'चंपा काले-काले अच्छर नहीं चीन्हती' की अंतिम पंक्तियाँ जिनमें कवि के पढ़ने-लिखने के सभी तर्कों को काटती हुई चम्पा सहज भाव से उत्तर देते हुए कहती है—

चम्पा बोली : तुम कितने झूठे हो, देखा,
हाय राम, तुम पढ़-लिख कर इतने झूठे हो
मैं तो व्याह कभी न करूँगी
और कहीं जो व्याह हो गया
तो मैं अपने बालम को सँग साथ रखूँगी
कलकत्ता मैं कभी न जाने दूँगी
कलकत्ते पर बजर गिरे।

इस कविता में कलकत्ते पर चम्पा का कोप जिस रूप में व्यक्त हुआ है वह बड़ा ही मोहक है। कविता परदेस में रहने वाले बालम से जुड़े तमाम लोकगीतों का स्मरण करा देती है। इसी रुझान की दो अन्य कवितायें हैं— 'परदेशी के नाम पत्र' और 'सचमुच इधर तुम्हारी याद तो'। परदेशी मजदूर की गाँव में रहनेवाली पत्नी की भावना का साक्षात्कार 'परदेशी के नाम पत्र' की इन पंक्तियों में किया जा सकता है—

सोसती सिरी सर्व उपमा जोग बाबू रामदास को

* * * * *

और वह बछिया कोराती है। यहाँ
जो तुम होते। देखो कब ब्याती है।

* * * * *

तुम्हें गाँव की क्या कभी याद नहीं आती है
आती तो आ जाते। मुझको विश्वास है।
थोड़ा लिखा समझना बहुत।
समझदार के लिए इशारा काफी है।

परदेशी की विवशता भरी अभिव्यक्ति के कारण इस पत्र का जवाब और भी हृदयस्पर्शी हो गया है— *सचमुच इधर तुम्हारी याद तो नहीं आयी*

झूठ क्या कहूँ।
पूरे दिन मशीन पर खटना
बासे पर आकर पड़ जाना
और कमाई का हिसाब जोड़ना
बराबर चित्त उचटना
इस-उस पर मन दौड़ाना
फिर उठकर रोटी करना
कभी नमक से कभी साग से खाना।

* * * * *

धीरज धरो आजकल करते तब आऊँगा
जब देखूँगा अपना घर कुछ कर पाऊँगा।

त्रिलोचन की प्रेमपरक कविताओं का अपना अलग आकर्षण है। सूत्रों जैसी छोटी पंक्तियों में भी मर्मभेदी बात कह देना उन्हीं के द्वारा संभव है—

'प्यार करो तो प्यार करो क्या आगा पीछा'

या *'बिना बुलाये जो आता है प्यार वही है/प्राणों की धारा उसमें चुपचाप बही है'*

जैसी छोटी पंक्तियाँ भी बड़े अर्थ का द्योतन कराती हैं। कवि की मान्यता है—

प्रेम व्यक्ति-व्यक्ति से / समाज को पकड़ता है
जैसे फूल खिलता है / उसका पराग कहीं और जगह पड़ता है
फूलों की दुनिया बन जाती है
प्रेम में अकेले भी हम अकेले नहीं हैं।

'तुम्हें सौंपता हूँ' संग्रह की 'तुम्हें जब मैंने देखा' कविता कवि की प्रेमाभिव्यक्ति की सूक्ष्मता की ओर संकेत करती है—

पहले पहल तुम्हें जब मैंने देखा
सोचा था
इससे पहले ही
सबसे पहले
क्यों न तुम्हीं को देखा।
अबतक दृष्टि खोजती क्या थी
कौन रूप क्या रंग
देखने को उड़ती थी
ज्योति पंख पर
तुम्हीं बताओ
मेरे सुंदर
अहे चराचर सुन्दरता की सीमा रेखा।

त्रिलोचन की रचनाओं में काव्य रूपों की विविधता परिलक्षित होती है—सॉनेट से लेकर गजल तक; मुक्त छंद, गद्य कविता आदि-आदि। उनके यहाँ 'चैती' या 'अरघान' संग्रह की छोटी कवितायें हैं तो 'नगई महरा' तथा 'चित्रा जाम्बोरकर' जैसी लंबी कवितायें भी। हिन्दी में सॉनेट के सफल प्रयोग का श्रेय त्रिलोचन को ही जाता है। एक विजातीय छंद को जातीय मन प्रदान कर कवि ने इसमें जो सिद्धि प्राप्त की है, वह बेजोड़ है।

गज़लों का संकलन 'गुलाब और बुलबुल' कविता के इस रूप पर उनकी पकड़ सिद्ध करता है। छोटी और सहज सी लगनेवाली पंक्तियों में बड़ी और गूढ़ बात कहने का ढंग कोई त्रिलोचन से सीखे—

बिस्तरा है न चारपाई है,
ज़िन्दगी खूब हमने पाई है।
कल अँधेरे में जिसने सर काटा,
नाम मत लो हमारा भाई है।।
आदमी जी रहा है मरने को,
सबसे ऊपर यही सचाई है।
कच्चे ही हो अभी त्रिलोचन तुम,
धुन कहाँ वह सँभल के आई है।।

एक अन्य ग़ज़ल की पंक्तियाँ हैं—

कोई दिन था जबकि हमको भी बहुत कुछ याद था
आज वीराना हुआ है पहले दिल आबाद था
मन मिला तो मिल गए और मन हटा तो हट गये
मन की इन मौजों पे कोई भी नहीं मतवाद था
रंग कुछ ऐसा रहा और मौज कुछ ऐसी रही
आप बीती भी मेरी वह समझे कोई वाद था

स्पष्ट रूप से कवि ने अपने को वादों के दायरे से मुक्त रखा है। त्रिलोचन ने मार्क्स का गहन अध्ययन किया है परन्तु इस आधार पर वे अपने को प्रगतिवादी या मार्क्सवादी विचारधारा के कवि के रूप में सीमित करना नहीं चाहते। यह विडंबना ही है कि आलोचकों की अनुकूलता त्रिलोचन को प्राप्त नहीं हुई। परन्तु कवि को इस बात की कभी कोई परवाह नहीं रही। वे मानते हैं कि जिस वर्ग के लिए उन्होंने लिखा है, उस वर्ग ने उन्हें मान्यता दी है अतः आलोचकों की मान्यता न मिलने से वे निराश नहीं होते। उनके अनुसार

'आलोचक का दर्जा
मानो शेर जंगली– सन्नाटे में गर्जा।'

कवि ने निराला को अपना आदर्श बनाया है तभी तो जीवन-संघर्ष में पराजय न स्वीकार करते हुए वह साहस के साथ योद्धा के रूप में लड़ता रहता है—

'अपनी राह चला / आँखों में रहे निराला'

त्रिलोचन ने जिस प्रकार स्वयं को संकीर्ण मतवाद के घेरे से मुक्त रखा है उसी

धीरज धरो आजकल करते तब आऊँगा
जब देखूँगा अपना घर कुछ कर पाऊँगा।

त्रिलोचन की प्रेमपरक कविताओं का अपना अलग आकर्षण है। सूत्रों जैसी छोटी पंक्तियों में भी मर्मभेदी बात कह देना उन्हीं के द्वारा संभव है—

'प्यार करो तो प्यार करो क्या आगा पीछा'

या *'बिना बुलाये जो आता है प्यार वही है/प्राणों की धारा उसमें चुपचाप बही है'*

जैसी छोटी पंक्तियाँ भी बड़े अर्थ का द्योतन कराती हैं। कवि की मान्यता है—

प्रेम व्यक्ति-व्यक्ति से / समाज को पकड़ता है
जैसे फूल खिलता है / उसका पराग कहीं और जगह पड़ता है
फूलों की दुनिया बन जाती है
प्रेम में अकेले भी हम अकेले नहीं हैं।

'तुम्हें सौंपता हूँ' संग्रह की 'तुम्हें जब मैंने देखा' कविता कवि की प्रेमाभिव्यक्ति की सूक्ष्मता की ओर संकेत करती है—

पहले पहल तुम्हें जब मैंने देखा
सोचा था
इससे पहले ही
सबसे पहले
क्यों न तुम्हीं को देखा।
अबतक दृष्टि खोजती क्या थी
कौन रूप क्या रंग
देखने को उड़ती थी
ज्योति पंख पर
तुम्हीं बताओ
मेरे सुंदर
अहे चराचर सुन्दरता की सीमा रेखा।

त्रिलोचन की रचनाओं में काव्य रूपों की विविधता परिलक्षित होती है—सॉनेट से लेकर गजल तक; मुक्त छंद, गद्य कविता आदि-आदि। उनके यहाँ 'चैती' या 'अरघान' संग्रह की छोटी कवितायें हैं तो 'नगई महरा' तथा 'चित्रा जाम्बोरकर' जैसी लंबी कवितायें भी। हिन्दी में सॉनेट के सफल प्रयोग का श्रेय त्रिलोचन को ही जाता है। एक विजातीय छंद को जातीय मन प्रदान कर कवि ने इसमें जो सिद्धि प्राप्त की है, वह बेजोड़ है।

गज़लों का संकलन 'गुलाब और बुलबुल' कविता के इस रूप पर उनकी पकड़ सिद्ध करता है। छोटी और सहज सी लगनेवाली पंक्तियों में बड़ी और गूढ़ बात कहने का ढंग कोई त्रिलोचन से सीखे—

बिस्तरा है न चारपाई है,
ज़िन्दगी खूब हमने पाई है।
कल अँधेरे में जिसने सर काटा,
नाम मत लो हमारा भाई है।।
आदमी जी रहा है मरने को,
सबसे ऊपर यही सचाई है।
कच्चे ही हो अभी त्रिलोचन तुम,
धुन कहाँ वह सँभल के आई है।।

एक अन्य ग़ज़ल की पंक्तियाँ हैं—

कोई दिन था जबकि हमको भी बहुत कुछ याद था
आज वीराना हुआ है पहले दिल आबाद था
मन मिला तो मिल गए और मन हटा तो हट गये
मन की इन मौजों पे कोई भी नहीं मतवाद था
रंग कुछ ऐसा रहा और मौज कुछ ऐसी रही
आप बीती भी मेरी वह समझे कोई वाद था

स्पष्ट रूप से कवि ने अपने को वादों के दायरे से मुक्त रखा है। त्रिलोचन ने मार्क्स का गहन अध्ययन किया है परन्तु इस आधार पर वे अपने को प्रगतिवादी या मार्क्सवादी विचारधारा के कवि के रूप में सीमित करना नहीं चाहते। यह विडंबना ही है कि आलोचकों की अनुकूलता त्रिलोचन को प्राप्त नहीं हुई। परन्तु कवि को इस बात की कभी कोई परवाह नहीं रही। वे मानते हैं कि जिस वर्ग के लिए उन्होंने लिखा है, उस वर्ग ने उन्हें मान्यता दी है अतः आलोचकों की मान्यता न मिलने से वे निराश नहीं होते। उनके अनुसार

'आलोचक का दर्जा
मानो शेर जंगली– सन्नाटे में गर्जा।'

कवि ने निराला को अपना आदर्श बनाया है तभी तो जीवन-संघर्ष में पराजय न स्वीकार करते हुए वह साहस के साथ योद्धा के रूप में लड़ता रहता है—

'अपनी राह चला / आँखों में रहे निराला'

त्रिलोचन ने जिस प्रकार स्वयं को संकीर्ण मतवाद के घेरे से मुक्त रखा है उसी

प्रकार वे कर्मकाण्ड या अंधविश्वास पर आधारित धर्म को भी नवीन मानव के लिए अहितकर मानते हैं। इसीलिए धर्मान्धता पर प्रहार करते हुए वे कहते हैं—

करता हूँ आक्रमण धर्म के दृढ़ दुर्गों पर
कवि हूँ नया मनुष्य मुझे यदि अपनायेगा
उन गानों में अपने विजय गान पायेगा।

और

धर्म विनिर्मित अंधकार से लड़ते-लड़ते
आगामी मनुष्य तुम तक मेरे स्वर बढ़ते

इस प्रकार अर्द्ध शताब्दी से भी अधिक समय की काव्य-यात्रा ने त्रिलोचन शास्त्री का जो काव्य-व्यक्तित्व निर्मित किया है वह महत्ता और विविधता से परिपूर्ण है। 'अपने अंतर की अनुभूति को बिना रंगे चुने कागज पर उतार देने वाले' वे हिन्दी के लगभग अकेले कवि हैं। आधुनिकता के घिसे-पिटे मानदंडों पर खरा न उतरते हुए भी त्रिलोचन आधुनिक कवि हैं। ग्रामीण सहजता और कठिन काव्यानुशासन दोनों का समावेश उनकी रचनाओं का आकर्षक पक्ष है। त्रिलोचन की कविताओं का विवेचन करते समय ओढ़ी हुई आधुनिक पद्धति का परित्याग अत्यावश्यक है। इसके विपरीत सहजता, आत्मीयता और मुक्त मन के साथ उनके काव्य जगत में बड़ी आसानी से प्रवेश किया जा सकता है। कवि ने ऐसे सभी लोगों को आमंत्रित करते हुए लिखा भी है—

सबके लिए निमंत्रण है अपना जन जानें
और पधारें इसको अपना ही घर मानें।

वास्तव में अपने ठेठ ग्रामीण संस्कार में भी त्रिलोचन की संवेदना, प्रेम को, प्रकृति को, संघर्ष को, मानवमात्र को जिस आत्मीयता के साथ स्पर्श करती है— वही उन्हें अपने ढंग का अनूठा कवि बना देती है। ●

मानवीय संवेदना के गीतकार : रमानाथ अवस्थी

हिन्दी कविता की गीत-विधा के प्रति आलोचकों की प्रतिकूलता के बावजूद जिन कुछ गीतकारों ने इसे समृद्ध कर गौरव के शिखर तक पहुँचाया है, उनमें गोपाल सिंह नेपाली, शंभुनाथ सिंह, हरिवंशराय बच्चन, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा रमानाथ अवस्थी का नाम अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। इसी परंपरा के प्रमुख कवि नीरज ने गीत को परिभाषित करते हुए लिखा है—

आयु है जितनी समय की, गीत की उतनी उमर है,
चाँदनी जब से हँसी है, रागिनी तब से मुखर है।
ज़िन्दगी खुद गीत है, जान लें गाना अगर हम,
हर सिसकती सांस लय है, हर छलकता अश्रु स्वर है।।

नीरज की इन पंक्तियों के आलोक में रमानाथ अवस्थी विरचित गीतों पर विचार इस अर्थ में रोचक है क्योंकि रमानाथ जी पर सीधे बच्चन और अंचल के प्रभाव के साथ इलाहाबाद के साहित्यिक वातावरण का व्यापक असर है। डॉ० सुरेश गौतम ने ठीक ही लिखा है— "कबीर जैसी बेलौस अभिव्यक्ति, लोकगीतों का माधुर्य और खंजड़ी पर गाये जाने वाले गीतों के खुरदरेपन को अगर मिला दिया जाय तो उसे रमानाथ अवस्थी कहा जा सकता है।"

८ नवंबर १९२४ को फतेहपुर जिले के लालीपुर गाँव में जन्मे रमानाथ अवस्थी को काव्य रचना विरासत में मिली थी। हिन्दी के स्वनामधन्य आशुकवि पं० जगमोहन नाथ अवस्थी के पुत्र होने का गौरव तो उन्हें प्राप्त है परन्तु पिता के स्नेह और संरक्षण सुख से वे वंचित ही रहे। उनके जीवन का यह ऐसा कृष्ण पक्ष रहा है जिसपर किसी प्रकार की चर्चा से रमानाथजी सदैव कतराते रहे हैं। पिता द्वारा दूसरा विवाह कर लिए जाने पर रमानाथजी ने उपेक्षित मां की पीड़ा का अनुभव किया और मां के साथ वे अपने पिता से अलग हो गए। इसके बाद उन्होंने पिता की ओर कभी मुड़कर नहीं देखा। माता पर पिता द्वारा किए गए अपमान और तिरस्कार का दर्द उन्हें सालता रहा। संभव है इसी पृष्ठभूमि ने दर्द और पीड़ा से भरे गीतों की रचना उनसे करवाई हो। मां के प्रति रमानाथ जी की अपार श्रद्धा और आदरभाव ने उन्हें वह शक्ति दी जिसके सहारे

वे अपनी जीवन-यात्रा विपरीत परिस्थिति में भी जारी रख सके। उन्हीं की पंक्तियाँ हैं–

मज़बूरी की मार सभी को, मजबूरन सहनी पड़ती है,
कभी कभी हम सबको अपनी, अनकहनी कहनी पड़ती है।
कभी कभी जब मेरी तबियत, यों ही घबराने लगती है,
तभी ज़िन्दगी मुझे न जाने, क्या क्या समझाने लगती है।।

और यह भी—

धूप है ज्यादा कम है छाया, आखिर ये मौसम भी आया
तेज बहुत हैं वक्त के पहिए, अब रुकने की बात करें क्या?
राह में क्या कुछ टूटा फूटा, सोच इसे अब आँख भरें क्या?
आओ अब सामान सँभालें, देर हुई यह शहर पराया।।

रमानाथ जी टूटे नहीं, आस्था और जिजीविषा ने उनका मार्ग प्रशस्त किया। ध्यातव्य है 'बंद न करना द्वार' शीर्षक कृति में रमानाथ जी का वक्तव्य— "मुझे अच्छा लगेगा अगर ये कविताएँ आज के जीवन की आपाधापी के बीच आपको हृदय के उस रस और रंग से जोड़ने में थोड़ी भी सहायक हों जिससे अलग होकर आज हम बृहत्तर मानव-मूल्यों के प्रति करीब-करीब आस्थाहीन हैं। मेरे लिए कविता, और उसमें भी गीत, एक ऐसी ज्योति-मणि की तरह रहा है, जिसने गहरे अँधेरों के बीच भी मेरी अस्मिता को अस्त नहीं होने दिया।"

रमानाथ जी की प्रकाशित कृतियाँ हैं— 'रात और शहनाई', 'बन्द न करना द्वार', 'आखिर यह मौसम भी आया' तथा 'हंस अकेला'।

ईश्वर के प्रति अवस्थीजी की भक्ति भावना यदा-कदा व्यक्त होती रही है। अपने 'ठाकुरजी' को वे जीवन का बड़ा संबल मानते रहे हैं। पंक्तियाँ हैं—

मुझको बड़ा-सा काम दो / चाहे न कुछ आराम दो
लेकिन जहाँ थक कर गिरूँ / मुझको वहीं तुम थाम लो
गिरते हुए इंसान को / कुछ मैं गहूँ कुछ तुम गहो।

धर्म, मजहब और ईश्वर के बारे में उनकी वैचारिक विराटता भी कम प्रभावी नहीं है। मानव की सर्वोपरि प्रतिष्ठा और मानवता के कल्याण की मनःकामना उनकी रचना के मूल में है—

धर्म मेरा है वही / जो आदमी को / आदमी के वास्ते जीना सिखा दे
और पंडित पादरी औ' मौलवी को / एक ही घट में अमृत पीना सिखा दे।
मैं न मन्दिर और मस्जिद में गया माथा पटकने
क्योंकि मैंने पा लिया है, देव-दानव / आदमी की बोलती तस्वीर में।

मनुष्य के प्रति उनका प्रेम जगजाहिर है। एक लोकप्रिय गीत की पंक्ति है—

देवता तो हूँ नहीं स्वीकार करता हूँ
आदमी हूँ क्योंकि मैं तो आदमी को प्यार करता हूँ

नए जमाने की तमाम बड़बोली उपलब्धियों के बीच कवि यह कड़वी सच्चाई भली-भाँति जानता है कि इस विकास ने इन्सान के भीतर घुटन और टूटन में अभिवृद्धि की है—

नए जमाने में कुछ भी हो, पर इन्सान बहुत टूटा।
करूँ शिकायत कहाँ दर्द की, हर दरबार यहाँ झूठा।।
बाहर-बाहर मुस्कानें हैं–भीतर-भीतर हाहाकार।

कवि ने जीवन में संघर्षशील लोगों का सदा-सर्वदा अभिनंदन किया है—

चाँदनी चढ़ाता हूँ उन चरणों पर जो अपनी राहें आप बनाते हैं
आवाज लगाता हूँ उन गीतों को जिनको मधुवन के भौंरे गाते हैं

इस गीत की आरम्भिक पंक्तियाँ हैं—

मैं गीत लुटाता हूँ उन लोगों पर दुनिया में जिनका कुछ आधार नहीं,
मैं आँख मिलाता हूँ उन आँखों से जिनका कोई भी पहरेदार नहीं।
आँखों की भाषाएँ तो अनगिन हैं जो भी सुंदर हो वह समझा देना।
मेरी रचना के अर्थ बहुत से हैं जो भी तुमसे लग जाँय लगा लेना।।

सन् १९४७ का देश-विभाजन रमानाथजी को भीतर तक उद्वेलित कर गया। अपनी पीड़ा प्रकट करते हुए अवस्थी जी ने एक गीत लिखा—

धरती तो बँट जायेगी पर नीलगगन का क्या होगा?
हम-तुम ऐसे बिछुड़ेंगे तो महामिलन का क्या होगा?

इसी प्रकार १९७५ के आपात्काल के दौरान गीतकार ने अपने विचारों को इस रूप में वाणी दी—

नदी बड़ी गहरी है। पता नहीं क्या होगा?
सहमे-सहमे लोग खड़े हैं दोनों ओर किनारों पर
कुछ की नज़रें नीचे को हैं, कुछ की चाँद सितारों पर
आँधी कहीं ठहरी है / पता नहीं क्या होगा?

रमानाथजी के भावुक मन-मस्तिष्क पर गाँव के प्रति सदैव आकर्षण रहा है। यह स्मृति उनकी कई कविताओं में अलग-अलग रूपों में व्यक्त हुई है। चर्चित गीत-पंक्तियाँ हैं—

सड़कों पर मेरे पाँव हुए कितने घायल
यह बात गाँव की पगडंडी बतलाएगी।

सम्मान सहित हम सब कितने अपमानित हैं
यह पीर न जाने कबतक मुझे सताएगी।।

'गाँव की याद' शीर्षक चतुष्पदी में उन्होंने ग्राम्य जीवन की याद करते हुए 'धूल भरे गलियारे' की चर्चा की है। पंक्तियाँ हैं—

आज भी पास-पास हैं तारे
दूर हैं मुझसे मगर धूल भरे गलियारे।
जिनमें भटका था कभी रोशनी के लालच में
याद आते हैं मुझे वे ही घने अँधियारे।।

गाँव के किनारे बना मंदिर उन्हें महानगर की आपाधापी में याद आता है। कितनी भावपूर्ण एवं अर्थगर्भ हैं गीत की ये पंक्तियाँ—

भीड़ में भी रहता हूँ बीरान के सहारे
जैसे कोई मंदिर किसी गाँव के किनारे।

रमानाथजी ने केवल रूमानी और दार्शनिक भित्ति वाले गीतों की ही रचना नहीं की है, देश और समाज की विपथगामी स्थितियों से वे पीड़ित हुए हैं और अपने भावों को सहज भाषा में व्यक्त किया है—

जिनके लिए समंदर छोड़ा वे बादल भी काम न आये
नई सुबह का वादा करके लोग अँधेरे तक ले आये
भूलो ये भी दर्द चलो कुछ और जियें
जाने कब रुक जाँय जिन्दगी के पहिये।
देख रहे हैं जो भी किसी से मत कहिये
मौसम ठीक नहीं है आजकल चुप रहिए।

ये पंक्तियाँ उन्हीं रमानाथ अवस्थी की हैं जिन्होंने मौसम यानी सुविधा और साधन की अपेक्षा मन की महिमा का गान किया था। 'कुछ कर गुजरने के लिए मौसम नहीं मन चाहिए' के रचनाकार की प्रेरणाप्रद पंक्तियाँ निराश मन को सक्रिय कर देती हैं, स्फूर्ति से भर देती हैं—

थककर नहीं बैठो प्रतीक्षा कर रहा कोई कहीं
हारे नहीं जब हौसले, तब कम हुए सब फ़ासले
दूरी कहीं कोई नहीं, केवल समर्पण चाहिए
कुछ कर गुज़रने के लिए मौसम नहीं मन चाहिए।

प्रेम की प्रगाढ़ता तथा तन्मयता के ढेरों गीत रमानाथजी के रचना संसार में हैं। वास्तव में 'प्यार' ही वह तत्त्व है जो गीतकारों को सतत ऊर्जा प्रदान करता रहता है। इसे यों परिभाषित किया है रमानाथ अवस्थी ने—

चन्द्रमा की चाँदनी से भी नरम
और रवि के भाल से ज्यादा गरम, है नहीं कुछ और केवल प्यार है।

और यह भी—

पत्थरों को जो बनाता देवता
जानती दुनिया नहीं जिसका पता, वह नहीं कुछ और केवल प्यार है।

प्रेमास्पद के प्रति कवि का यह निवेदन भी सहज किन्तु अत्यन्त प्रभावी है—

तुमने मुझे बुलाया है मैं आऊँगा, बंद न करना द्वार देर हो जाये तो।
मेरे आने तक मन में धीरज रखना चाँद देख लेना यदि मन घबराए तो।
मेरा और तुम्हारा मिलना तो तय है, शंकित मत होना यदि जग बहकाए तो।
मैं न रहूँ तब मेरे गीतों को सुनना, जब कोई कोकिल जंगल में गाए तो।

एक उदाहरण और—

तन का सिंगार तो हजार बार होता है,
किन्तु प्यार जीवन में एकबार होता है।
धीरे-धीरे बूँद चुनो जिंदगी की धार से,
धीरे-धीरे बात करो सारी रात प्यार से।

जीवन की नश्वरता एवं क्षणभंगुरता से गीतकार सुपरिचित रहा है। कवि की अनेक रचनाएँ मृत्यु की कठोर वास्तविकता पर केन्द्रित हैं। कितनी भावपूर्ण हैं ये पंक्तियाँ—

रोशनी के घेरे में / या किन्हीं अँधेरे में
तुम भी डूब जाओगे / मैं भी डूब जाऊँगा। / एक दिन यही होगा।

गीत का अंतिम अंश जितना सरल-सहज है, उतना ही मर्मस्पर्शी भी है—

कोई कुछ न बोलेगा / कोई थोड़ा रो लेगा
खेल खत्म होने पर / आग पर बदन होगा।
आग पर बदन होगा / आखिरी शयन होगा।
तुम मुझे निहारोगे / मैं तुम्हें निहारूँगा।

इसीलिए कवि एक मुक्त छंद में जीवन की सबसे बड़ी सच्चाई का बयान करता है और परामर्श भी देता है—

एक दिन / एक काला दिन आयेगा
सब कुछ ले जायेगा / सिर्फ धुआँ मँडरायेगा
यह आदमी / ये तन / ये मन / ये भूख

यह रूप / यह यौवन / यह अट्टहास / यह अभिनन्दन
इन सबको सबमें बराबर-बराबर बाँटकर जियो
जिन्दगी के रस को विष नहीं / अमृत बनाकर पियो
क्योंकि तुमसे एक दिन जिन्दगी का हिसाब मांगा जायेगा।

रमानाथजी ने एक मुक्तक की चार पंक्तियों में चलती-फिरती शब्दावली में जो बड़ी बात कही है, वही ज़िन्दगी की असलियत है—

आज इस वक्त आप हैं हम हैं,
कल कहाँ होंगे कह नहीं सकते।
ज़िन्दगी ऐसी नदी है जिसमें
देर तक साथ बह नहीं सकते।।

जीवन-जगत की विसंगतियों से कवि-मन बार-बार विचलित हुआ है। उनके मनः पटल पर *'अपनी ही राम-कथा है इतनी आग भरी / औरों की सुनने का बानक बनता नहीं'* जैसी पंक्ति यों ही नहीं उभरी होगी। जीवन के दंश ने उन्हें जिस कदर पीड़ित किया उसके फलस्वरूप जो अश्रुपात हुआ उसका हृदयस्पर्शी अंकन उनके अतिचर्चित गीत में है *'कुछ आँसू बन गिर जायेंगे कुछ दर्द चिता तक जायेंगे / उनमें ही कोई दर्द तुम्हारा भी होगा'*। परंतु यह दर्द केवल कवि का नहीं है, सारे समाज की पीड़ा है। वीरेन्द्र मिश्र की प्रसिद्ध गीत-पंक्ति है, *'पीर मेरी कर रही गमगीन मुझको और उससे भी अधिक तेरे नयन का नीर रानी / और उससे भी अधिक हर पाँव की जंजीर रानी।'*

अवस्थीजी और आगे बढ़कर स्वीकार करते हैं—

हर दर्द जूठा लग रहा / सहकर मजा आता नहीं
आँसू वही आँखें वही / कुछ है गलत कुछ है सही
जिसमें नया कुछ दिख सके वह एक दर्पण चाहिए
कुछ का गुजरने के लिए मौसम नहीं मन चाहिए।

जिन्दगी के कटु-तिक्त प्रसंगों ने कवि को दर्द और आँसू का उपहार दिया है। उन अश्रुओं को लिपिबद्ध कर गाने का महारत कवि को हासिल है, वह कह उठता है—

घन से लेकर घूँघट तक के आँसू से परिचय मेरा
हर आँसू की आग अलग है एक मगर जल का घेरा
कोई आँसू दिखलाता है, कोई इसे छिपाता है
कोई मेरी तरह, अश्रु को गाकर जी बहलाता है
आँसू क्या वे समझें, जिनको सोख लिया धन-धाम ने।
मेरी प्यास अभी तक वैसी, जैसी दी थी राम ने।।

जीवन-यात्रा में फूल के साथ शूल की चुभन के अहसास को रचनात्मकता में रूपान्तरित कर कवि दर्द भरे गीतों का सृजन करता रहा है। पंक्तियाँ हैं—

गा रहा हूँ दर्द अपना कंठ में भर गीत
चाहता हूँ गीत के सँग उम्र जाये बीत
राह पर मुझको मिले हैं फूल में छिप शूल
स्वप्न भी सोना दिखाकर दे गए हैं धूल
स्वप्न सा दुर्बल नहीं स्वीकार करता हूँ
क्योंकि जीने के लिए हर बार मरता हूँ।

घृणा, विद्वेष और द्वन्द्व से परे प्रेम, सद्भाव और आनन्द से पूरित संसार ही कवि की कल्पना का जगत है। जातीय वैमनस्य एवं साम्प्रदायिक विभेद की दानवी भावना के विपरीत मानव मात्र के मन में देवत्व की प्रतिष्ठा कवि का इष्ट है। हृदयस्पर्शी हैं ये पंक्तियाँ—

धरती के ऊपर आकाश के तले
प्रतिपल निष्कम्प प्यार का दिया जले
आओ हम प्रार्थना करें- आओ हम वन्दना करें।
नफरत की आँधी का अन्त हो यहाँ
बस्ती-बस्ती सदा बसन्त हो यहाँ
आँगन-आँगन में आनन्द हो यहाँ
आपस में खींचतान बन्द हो यहाँ।
हर चेहरा हम सबको राम सा लगे
सबके भीतर वाला देवता जगे
आओ हम कामना करें।

सौन्दर्य की उपासना, प्रेम की अतृप्त प्यास, मानव-प्रेम की अभिव्यंजना, जीवन के दंश वाले असंख्य गीतों के रचनाकार के सुरीले कंठ ने उन्हें श्रेष्ठ गीतकार के साथ-साथ सुप्रतिष्ठित मंचीय कवि के रूप में भी अपार सम्मान प्रदान किया था। रमानाथजी ने उसे अपनी प्रतिभा से और प्रभावी बनाया था। निराला, पंत और महादेवी के आशीर्वाद से अभिषिक्त रमानाथजी भले ही दिवंगत हो गए हों परन्तु उनके गीत हिन्दी गीतों की प्रभविष्णुता का प्रमाण सदैव प्रस्तुत करते रहेंगे। ●

समय की त्रासदी के गीतकार : रवीन्द्र भ्रमर

हिन्दी में गीत-काव्य की सुदीर्घ एवं समृद्ध परंपरा में 'नवगीत आन्दोलन' गीत को काव्य-विधा के रूप में सुप्रतिष्ठित करने का प्रयास है। नयी कविता, नयी कहानी की ही तरह 'नयी' या 'नवीन' विशेषण से युक्त 'नव-गीत' नवीन साहित्य चेतना से अपने जुड़ाव को इंगित करते हैं।

परस्पर विरोधी मान्यताओं एवं परिभाषाओं के वाक्जाल में फँसे बिना यदि नवगीत के वैशिष्ट्य एवं काव्यात्मक महत्त्व पर गौर किया जाय तो यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि यह काव्यान्दोलन सस्ते रोमानी गीतों से अलग आधुनिक चेतना से युक्त उन रचनाओं का आग्रही है जिनमें शिल्प और अभिव्यंजना के स्तर पर भी नवीनता हो। प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री के अनुसार— "नवगीत को नवता प्राप्त हुई है पुरानी अतिशय भावुकतापूर्ण जीवन दृष्टि तथा अभिजात अलंकृत रोमानी भाषा के परित्याग में। भाव-प्रवणता निश्चय ही आज भी गीतों का आधार तत्त्व है। उसका आशावादी, निराशावादी या संत्रासग्रस्त आदि होना गीतकार की व्यक्तिगत जीवन दृष्टि पर निर्भर है।" *(स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य/संपादक : महेन्द्र भटनागर, पृष्ठ २१३)*

इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि नवगीतकार में आस्थाहीनता है या रागात्मकता और आवेग का अभाव है। परन्तु यह भी सच है कि नवगीतकारों में कृत्रिम भावुकता से परे गहरी संवेदनशीलता पाई जाती है। गीतों में अंतर्निहित व्याकुलता, छटपटाहट, पीड़ा और दंश इसके प्रमाण हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता में नवगीत को समृद्ध करने में जिन कवियों की गणना की जाती है उनमें डॉ० रवीन्द्र भ्रमर का शीर्ष स्थान है। वे नवगीत के उन्नायक और सहज कविता के प्रवर्तक के रूप में जाने जाते हैं। रवीन्द्र भ्रमर की चर्चित काव्य-कृतियाँ हैं : कविता सविता, रवीन्द्र भ्रमर के गीत, प्रक्रिया, सोनमछरी मन बसी, धूप दिखाए आरसी, और गीत रामायण।

'लोक जीवन के बिम्ब, लोकभाषा के मुहावरे और लोकगीतों के लयविधान' का उपयोग करते हुए गीत को नवगीत का नया संस्कार देने वाले रवीन्द्र भ्रमर ने इसके रूपायित होने के चालीस वर्ष बाद पुनर्विवेचन की आवश्यकता का अनुभव किया।

उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा— "जैसा कि छायावाद और प्रयोगवाद इत्यादि के साथ हुआ, नवगीत अपने आपको दुहराने लगा है, इसमें गतानुगतिकता और पिष्टपेषण के लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहे हैं। .... रागात्मकता के साथ लयात्मकता का क्रमशः ह्रास होता जा रहा है।" नये-पुराने, गीत अंक १ (संपादक : दिनेश सिंह) में 'नवगीत से अतिगीत तक' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने साफ-साफ लिखा— "नवगीत फैल गया है, बिखर रहा है। नवगीत अपने आपको या तो दुहरा रहा है या उसकी लय टूट रही है। .....इन्हें गीत या नवगीत की अपेक्षा 'अतिगीत' कहना उपयुक्त जान पड़ेगा। यदि नवगीत की तरलता और ताजगी को बरकरार नहीं रक्खा जा सकता तो उसके लिए अतिगीत बन जाना ही श्रेयस्कर होगा।"

डॉ० भ्रमर ने खुले मन से सलाह दी थी कि नवगीत के लिए "यह श्रेयस्कर नहीं है कि वह स्वयं रूढ़ और बासी होकर अपने अस्तित्व को बनाये रखे। आज फिर उसे नया संस्कार देने की आवश्यकता है।" नए पुराने (गीत अंक ३) में अतिगीत पर अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए डॉ० रवीन्द्र भ्रमर ने लिखा था— "मैं तो केवल यही निवेदन करूँगा कि नवगीत को गीत भी बनाए रखिए। उस पर बौद्धिकता की ऐसी खुरदरी खोल मत चढ़ाइए कि वह कोकिल के स्थान पर बाज बन जाए। 'अतिगीत' शब्द से परहेज करने की आवश्यकता मैं नहीं समझता।..... जो लोग युग के खुरदुरे यथार्थ को, इसकी त्रासद स्थितियों को भाषिक संरचना के बौद्धिक आयाम दे रहे हैं उनकी तारीफ की जानी चाहिए। वे नवगीत की नवता का संधान करते हुए एक नई विधा को जन्म दे रहे हैं।"

गीतकार रवीन्द्र भ्रमर की कविता-यात्रा पर यदि गौर किया जाय तो स्पष्ट होता है कि लगभग साढ़े चार दशकों की इस साधना में उन्होंने गीत, नवगीत तथा अतिगीत के अंतर्गत परिगणित की जाने वाली ढेरों कविताएँ लिखी हैं। 'अपनी बोली-बानी का निरंतर सन्धान और अभ्यास करते हुए लोकभाषा की मिठास और दैनिक जीवन की संप्रेषणीयता' का समावेश उनके गीतों की अपनी विशेषता है।

कवि रवीन्द्र भ्रमर गीत-विधा की लयात्मकता से भली-भाँति परिचित ही नहीं, अपने गीतों में उसकी उपस्थिति हेतु जागरूक भी रहे हैं—

धीरे-धीरे स्वर उठाओ कोई तार टूटे ना।
प्रेम बांसुरी अमोल, पोर-पोर रिसे बोल
गीत हौले-हौले गाओ कोई छंद टूटे ना।।

संसार-सागर के तट पर जो मेला लगा हुआ है उसे कवि ने यथार्थपरक दृष्टि से वर्णित किया है— *'आठ पहर का मेला है भवसागर तीरे'*। इसी गीत की एक पंक्ति

जीवन की वास्तविकता से साक्षात्कार कराती है— *'कहीं मरण की डुग्गी बजती कहीं सृजन के झाँझ मँजीरे'*। इस सच्चाई के बावजूद जीवन से विमुख नहीं हुआ जा सकता। जीवन तो गतिशील रहता है। बच्चन की पंक्तियाँ हैं, *'नाश के दुख से कभी दबता नहीं निर्माण का सुख / प्रलय की निस्तब्धता से, सृष्टि का नव गान फिर-फिर/ नीड़ का निर्माण फिर-फिर/ नेह का आह्वान फिर-फिर।'*

गीतकार रवीन्द्र भ्रमर ने 'भवसागर तीरे' गीत का समापन करते हुए इन्हीं विचारों को इस रूप में प्रकट किया है—

पोत डूब जाते हैं लेकिन जीवन की गति बड़ी निराली
एक यान टूटा तो दूजे ने बढ़कर पतवार सँभाली
माझी रे तू इसी पयोनिधि पर गाता चल धीरे-धीरे
आठ पहर का मेला है भवसागर तीरे।

लोकजीवन से आत्मीयता तथा अंतरंगता नवगीत का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। डॉ० भ्रमर के अनेक गीत लोक-जीवन से तो जुड़े हैं लोकगीतों की प्रचलित धुनों पर आधारित भी हैं। सर्वाधिक चर्चित है उनका यह गीत—

जोग साधोगे जोगी तो क्या पाओगे/धुंध की कंदरा में समा जाओगे।

इस गीत के दो अनुच्छेद ध्यातव्य हैं—

स्वर्ग है इस धरा पर यहाँ प्यार है, फूल खिलते हैं रंगों की बौछार है।
श्लोक बनता है सौरभ का वातावरण, छोड़कर यह तपोवन कहाँ जाओगे?

ये क्षितिज पर सँवरती सी तरुणाइयाँ, ये हवा में भटकती सी अँगड़ाइयाँ
ऐसी नीलमपरी का हृदय तोड़कर, मोक्ष की कलमुँही अप्सरा लाओगे?

सवाल योगसाधनारत उस योगी से किया गया है जो सांसारिक आकर्षणों से विरत होकर तपोवन में तपस्या के लिए जानेवाला है। तपस्या की महत्ता को न्यून करने की मंशा इस गीत में देखना उचित नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि कवि संसार की उन उल्लासकारी स्थितियों से हमारा परिचय कराना चाहता है जो जटिलताओं और कष्टकारी परिस्थितियों के मध्य हमें स्वर्गीय सुख प्रदान करने में सक्षम हैं। इसीलिए इस कविता में वह प्रेम को, पुष्प को, रंगों को, सुरभित पवन को, जादूभरी चाँदनी को उपस्थित करता है और इन सबको भभूती रमानेवाले योगी की साधना एवं स्वर्ग की कामना की अपेक्षा श्रेयष्कर समझता है। गीत की अंतिम पंक्तियाँ सांसारिक विरक्ति के विपरीत अनुरक्ति की ओर उन्मुख करती हैं। कहाँ प्रकृति का मोहक सुरम्य वातावरण और कहाँ मोक्ष की शुष्क साधना। योग की जटिल पद्धति के समानान्तर प्रेम की सरसता के पक्ष में कवि ने उन्मुक्त विचार प्रगट किये हैं।

जीवन की कटु एवं पीड़द स्थितियों के बीच प्यार के मोहक क्षण सारा संदर्भ ही बदल देते हैं। डॉ० भ्रमर की ही पंक्तियाँ हैं—

सारा का सारा संदर्भ बदल जाता है
प्रत्येक दृश्य नये-नये अर्थ देने लगता है।

कवि ने एक गज़ल में *'बसंत ला दे कोई प्यार के तपोवन में'* कह कर अपनी मंशा जाहिर कर दी है। प्रेमास्पद का सान्निध्य तो सुखद है ही, वियोग के क्षणों में सुबह-सुबह उसके स्मरण मात्र से सारे दिन की दिशा ही बदल जाती है। अत्यन्त मार्मिक हैं ये पंक्तियाँ—

आज का यह दिन तुम्हें दे दिया मैंने।
आज सारे दिन बिना मौसम घनी बदली रही है
सहन-आँगन में उमस की प्यास की धारा बही है
सुबह उठकर नाम जो ले लिया मैंने
आज का यह दिन तुम्हें दे दिया मैंने।

प्रेम के समर्पण भाव की यह भंगिमा भी कम मोहक नहीं है—

समर्पित हो गए हम जो मिली उस प्यार की खुशबू,
बनाकर एक मंदिर बस गए हैं फूल चंपा के।

लोकगीत की तर्ज पर डॉ० भ्रमर का एक और चर्चित गीत है जिसमें कवि ने श्रीकृष्ण के प्रति श्रद्धा निवेदन हेतु शब्दों की माला गूँथी है। शब्दों के जादूगर कवि ने इस गीत में आराध्य की अर्चना के समस्त उपादान भी तैयार किए हैं—

शब्दों में ही स्तवन, कीर्तन, आराधन है,
चित्रों की यमुना बिम्बों का वृन्दावन है।
शब्दों में सुरताल, छंद, लय के आवर्तन,
छलक रहा नव-रस का प्याला, ओ नंदलाला।
गूँथी है शब्दों की माला ओ नंदलाला।।

इन शब्दों में बोल रही प्राणों की राधा,
ऐसे बोल कि कट जाए युग-युग की बाधा।
शब्दों में बाँसुरी तुम्हारी मुखर हुई है,
औचक ही जादू कर डाला ओ नंदलाला।।

कवि की इस वंदना में छल-छद्म से परे हृदय के सरल भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

शब्दों में छल नहीं हृदय का भाव सरल है
मुझ दुखिया के पास शब्द का ही संबल है
मैं क्या जानूँ छल-प्रपंच करना शब्दों से
मैं तो हूँ भोली ब्रजबाला, ओ नंदलाला।

डॉ० रवीन्द्र भ्रमर के गीत-संभार में केवल भावुक और संवेदनशील रचनाएँ ही नहीं हैं जीवन की यंत्रणाओं से जूझने का आह्वान भी है—

दोपहरी का ताप झेलो मन।
बीत गई वह सुबह सुनहली मुरझ गए वे फूल
दूर उड़ गई सोन चिरैया अंबर छाई धूल
कठिन समय की छाप झेलो मन।
यह संघर्ष बनेगा साका हार बनेगी जीत
जीवन की आरती सजेगी पूरी होगी प्रीत
युग मानस की छाप ले लो मन।
दोपहरी का ताप झेलो मन।।

जीवन की विसंगतियों का अहसास कराने वाले कई गीत बेहद प्रभावी हैं—

दर्द में डूबा हुआ संगीत हूँ,
मैं समय की त्रासदी का गीत हूँ।
घुट रहा है दम विषैली छाँव में,
धुँआ फैला है समूचे गाँव में।

'सोनमछरी मन बसी' का एक गीत आज की राजनीति पर सटीक बैठता है-

रक्षकों की पहनकर वर्दी, राजपथ पर खड़े हैं बटमार
भेड़ियों के मुँह लगा है खून, चल रहा है मरण का व्यापार
राक्षसों के हाथ पहरा है।

इसी भाव के गीत डॉ० चन्द्रदेव सिंह तथा अश्व घोष ने भी लिखे हैं—

भेड़ियों ने ओढ़ ली हैं बकरी की खालें।
अब तो इस बस्ती को राम ही सँभालें।। (डॉ० चन्द्रदेव सिंह)

भेड़िये जो दे रहे भाषण अहिंसा के
हैं फरेबी आदमी के खून के प्यासे
जुल्म इनके जिस्म का विस्तार
बन्धु! रहना हर तरह तैयार। (अश्व घोष)

जब जीवन से आमोद-प्रमोद का क्रमशः लोप होता जा रहा हो, जटिलताओं के

चक्रव्यूह में घिरा मानव पीड़ा भोगने को विवश हो, तब कविता में फूल, पत्तियाँ, रंग, मौसम, खुशबू और रंगबिरंगी तितलियाँ अनुपस्थित हो ही जाते हैं। ऐसे में किसी रचना में इनकी उपस्थिति कवि को अजीब लगती है—

अब कितना अजीब है कविता में तितली का आ जाना।
फूल नहीं पत्तियाँ नहीं, रंगों की कोई बात नहीं,
मौसम के काँटें चुभते हैं, खुशबू की सौगात नहीं।
छंदों की लय टूट गई है, बिखर गया दाना-दाना,
अब कितना अजीब है कविता में तितली का आ जाना।

इस त्रासद स्थिति की जटिलता का ध्वनन करती है गीत की यह पंक्ति—

भूल गए हैं लोग परस्पर मिलना-जुलना मुस्काना।

जीवन में सँजोए सपने जब साकार नहीं होते, यथार्थ की पथरीली ज़मीन पर जब सारी महत्त्वाकांक्षाएँ चूर-चूर हो जाती हैं तब स्थिर चित्त का व्यक्ति भी पछतावे और रुदन के वशीभूत हो जाता है। ऐसे लोगों को डॉ० भ्रमर का परामर्श है—

जो होना था वह नहीं हुआ, अब क्या पछताना रोना क्या
मैं बन न सका सरिता का निर्मल नीर हास
जिस पर जल पाँखी करते मोहक नृत्य रास
मैं उच्छल जल का स्रोत रहा, लेकिन क्रमशः बन गया रेत।।

याद आ रही हैं निराला की चर्चित पंक्तियाँ—

'स्नेह निर्झर बह गया है / रेत ज्यों तन रह गया है'

डॉ० भ्रमर की दृढ़ मान्यता है कि आज की भयावह स्थिति में यांत्रिक युग की जटिलताओं के बीच मनुष्य की रागात्मकता को बनाए रखने के लिए गीत अपरिहार्य हैं। कविता की पहचान के लिए लयात्मकता के आग्रही डॉ० भ्रमर स्वयं अत्यंत प्रभावी ढंग से गीतों का पाठ करते रहे हैं। डॉ० रवीन्द्र भ्रमर को गाते हुए सुनना अलग प्रकार के अनुभव से गुजरना रहा है।

दिवंगत डॉ० भ्रमर ने अपने जीवनकाल में एक ऐसे गीत की रचना की थी जिसमें ज़िंदगी को पेड़ की तरह जीने का उल्लेख किया गया था। प्रकृति के प्रति उनके लगाव का प्रमाण है यह गीत—

ज़िन्दगी को मैंने किसी पेड़ की तरह जिया।
बीज सा उगा फैला बेल सा बढ़ा,
मिट्टी में जड़ जमाकर ऊपर तक चढ़ा।
क्या हुआ जो बन न सका सेव लीची आम,

प्रकृति मेरी करती रही अपने कुछ काम।
और मैं खटमिट्ठे झरबेर की तरह जिया।।

इसी कविता में वे आगे लिखते हैं—

पीना पड़ा मुझको परिवेश का प्रदूषण,
झेलता रहा मैं कड़क धूप ठंढ भीषण।
नटखट बच्चों ने मुझपर पत्थर बरसाये,
किन्तु मैं अचल सुमेर की तरह जिया।
ज़िन्दगी को मैं किसी पेड़ की तरह जिया।।

वर्तमान परिवेश में जहाँ धूर्तता, मक्कारी, ठगी और मिथ्या का बोलबाला है, आम आदमी किंकर्त्तव्यमूढ़ता की स्थिति में है। इस स्थिति का यथातथ्य चित्रण इन पंक्तियों में है—

कहाँ रहिए, कीजिए क्या, भागिए किस ठाँव।
वंचना के गर्त में धँसने लगे हैं पाँव।।
कहीं अंकुश नहीं, ओछे आचरण सर्वत्र,
लोभ के हौदे कसे, चोरी-ठगी के छत्र।
लूटकर जनधन तिजोरी भर चले चितचोर,
बस उन्हीं की जीत है, जयकार है हर गाँव।।

भाषा की सहजता, अभिव्यक्ति की विशिष्टता तथा शैली की आत्मीयता भ्रमर की रचनाओं की खासियत है। उनकी रचनाओं के गंभीर अनुशीलन के उपरान्त उन्हीं के गीत की पंक्तियाँ याद आ रही हैं—

आज मेरी पोथियों में शब्द बनकर तुम्हीं दीखे,
चेतना में उग रहे हैं अर्थ कितने मधुर-तीखे।
आज अपनी ज़िन्दगी को जिया मैंने,
आज का ये दिन तुम्हें दे दिया मैंने।।

और यह भी कि—

बात है/ शब्द नहीं है/ कैसे खोल दूँ ग्रंथित मन।
भाव है/ छन्द नहीं है/ मौन ही बनेगा समर्थन।।

गीत-विधा के प्रति पूर्णतः समर्पित शीर्षस्थ गीतकार को विनम्र श्रद्धांजलि। ●

ओजस्वी एवं तेजस्वी कवि : शिव ओम अम्बर

आधुनिक हिन्दी कविता में ओजस्वी एवं तेजस्वी रचनाकार के रूप में शिव ओम अम्बर ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। ग़ज़ल के समकालीन हस्ताक्षरों में अम्बर की गणना प्रथमश्रेणी के ग़ज़लकार के रूप में की जाती है। सामान्य-सी कद-काठी एवं सीधे-सादे रहन-सहन वाले अम्बर का बाह्य व्यक्तित्व भले ही अति साधारण प्रतीत होता हो परन्तु उनकी रचनाओं की प्रखरता एवं प्रभविष्णुता ने उन्हें असाधारण कवि की प्रसिद्धि प्रदान की है। कवि-सम्मेलनों तथा गोष्ठियों में वे लोकप्रिय कवि के रूप में सम्मानित हैं। मंच-संचालन के क्षेत्र में भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है।

२३ सितम्बर १९५२ को पं० गौरीदत्त पाण्डेय एवं श्रीमती हरिप्रिया पाण्डेय के पुत्र के रूप में जन्मे शिव ओम ने हिन्दी में एम.ए. तथा बी.एड. की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। वे म्युनिसिपल इन्टर कॉलेज फतेहगढ़ में अध्यापक हैं। उनका वैयक्तिक ग़ज़ल संग्रह है, 'आराधना अग्नि की'। 'शब्दों के माध्यम से अशब्द तक' कृति में आध्यात्मिक चिन्तनपरक रचनाएँ मुख्य रूप से संकलित हैं। इस पुस्तक में उनकी कुछ लोकप्रिय कविताएँ भी सम्मिलित हैं। अंबर ने दो ग़ज़ल संग्रहों का सम्पादन भी किया है— 'काँटों का सफर' तथा 'आस्था की रेखाएँ।' जिन समवेत संकलनों में शिव ओम अम्बर की उपस्थिति है, उनके नाम हैं— हिन्दी ग़ज़ल के समकालीन स्तंभ, नेह के सरसिज, आस्था के पड़ाव, गजलपुर, सितारे धरती के, लोकप्रिय हिन्दी ग़ज़लें, हिन्दी ग़ज़ल यात्रा, दोहा दशक - ३ आदि।

कवि को भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा अपने प्रेरणा-पुरुषों पर नाज है। भगवान श्रीराम पर उसकी अदम्य निष्ठा भारत की अस्मिता से जुड़ी हुई है। कवि की दृष्टि में—

राम व्यक्ति को नहीं वृत्ति को प्राप्त हुई संज्ञा है
राम हमारा चिन्तन दर्शन प्रीति प्रकृति प्रज्ञा है
राम चिरन्तन जीवन मूल्यों का स्वर्णाभ शिखर है
राम हमारी संस्कृति का सारस्वत हस्ताक्षर है
राम हमारा कर्म, हमारा धर्म, हमारी गति है

राम हमारी शक्ति, हमारी भक्ति, हमारी मति है
बिना राम के आदर्शों का चरमोत्कर्ष कहाँ है
बिना राम के इस भारत में भारतवर्ष कहाँ है?

देश के प्रति कवि का अनुराग उसे प्रखर राष्ट्रवादी रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित करता है। भारत देश में रहते हुए भी जो लोग इसके प्रति सम्मान एवं समर्पण भाव नहीं रखते; राष्ट्र वंदना में 'वंदेमातरम्' जैसे राष्ट्र-गान के गायन से जो परहेज करते हैं, कवि उन्हें कड़ी फटकार लगाने से नहीं चूकता—

इससे बढ़कर कोई पाठशाला नहीं
इससे ऊँचा कोई भी शिवाला नहीं
इसमें रहना है तो इसके होकर रहो
देश है यह कोई धर्मशाला नहीं।

या फिर—

कहीं ऐसा न हो ये धैर्य के हिमखण्ड गल जायें
सहज शालीनता के स्वर शरारों में बदल जायें
जिन्हें विद्वेष वंदेमातरम् से है कहो उनसे
हमारे गाँव की सीमा से वे बाहर निकल जायें।

कवि के लिए अयोध्या में श्रीराम मंदिर निर्माण का आंदोलन राष्ट्रमंदिर निर्माण का आन्दोलन है। ६ दिसम्बर १९९२ के घटनाक्रम को कुछ बुद्धिजीवी एवं तथाकथित सेकुलरवादी भले ही शर्मनाक कहें, कवि को यह घटना ऐतिहासिक पुनर्जागरण की घटना प्रतीत होती है। उसकी प्रतिक्रिया है—

मुद्दतों के बाद करवट ली ज़रा तारीख ने
साँकलों को जोर से फिर खटखटाओ दोस्तो
जिन दरख्तों से बगीचे को महज काँटें मिलें
उन दरख्तों को बगीचे से हटाओ दोस्तो।

राममंदिर आन्दोलन का विरोध करनेवाली छद्म सेकुलरवादियों की घृणित राजनीति का प्रतिफल थी कोठारी बन्धुओं की शहादत। यह घटना कवि को अत्यधिक विचलित करती है और वह आक्रोश-पूरित वाणी में कह उठता है—

राजनीति के रोजनामचे पढ़कर शर्मिन्दा हैं
बच्चे-बच्चे में कोठारी बंधु अभी जिन्दा हैं
हम विप्लव के नए कायदे की किताब लिख देंगे
सर्द ज़मीं पर गर्म लहू से इंकलाब लिख देंगे

राष्ट्रपुरुष हैं राम सत्य जिसको स्वीकार न होगा
भरतभूमि पर रहने का उसको अधिकार न होगा।।

कवि यह अच्छी तरह जानता है कि उसकी यह स्पष्टवादिता कुछ लोगों को रुचिकर नहीं लगेगी और उसे साम्प्रदायिक कहा जायगा। वह सत्य का पक्षधर है इसलिए उसे इस प्रकार के आरोपों की कतई चिन्ता नहीं है। वह दृढ़ स्वर में कहता है—

सत्य कहना है अगर फिरकापरस्ती तो मेरा
नाम भी फिरकापरस्तों में यकीनन जोड़ दें
किन्तु मजहब मुल्क से बढ़कर है जिनके वास्ते
उनसे कह दीजे कि वो मेरे वतन को छोड़ दें।।

समाज और राजनीति में वृत्रासुरी वृत्ति के पनपने तथा इस वृत्ति की अनवरत अभिवृद्धि पर वह चिन्तित है इसीलिए तो वह उपनिषद् एवं पुराणों के शांति-मंत्रों को त्यागकर वृत्रासुर-वध हेतु वज्र बन जाने का आह्वान करता है। कवि समाज एवं राजनीति के खद्योतों को उनकी औकात बताने की आवश्यकता पर भी बल देता है—

उपनिषद् के शांति मंत्रों को नहीं दुहराइये
वक्त ये वृत्रासुरी है वज्र में ढल जाइये
कह रहे हैं ये स्वयं को ज्योति का मंगल कलश
इक दफा इन जुगनुओं को धूप में ले आइये।।

राजनेताओं द्वारा धर्म और जाति के नाम पर समाज में जो ज़हर घोला जा रहा है, उसके प्रति आम जनता को सतर्क करने के साहित्यिक उत्तरदायित्व से वह पीछे नहीं हटता। वह कहता है—

कुहासा आसमां पे छा रहा है होश में आओ
अँधेरा धूप को धमका रहा है होश में आओ।
मुहब्बत की गली के इस चहकते आशियाने को
सियासत का ज़हर झुलसा रहा है होश में आओ।।

जातिवादी राजनीति करनेवाले राजनेताओं के कुकृत्यों से वह क्षुब्ध है। भेदभाव फैलानेवाले वोट के इन सौदागरों से वह प्रश्न करता है और इस गतिविधि का परिणाम भी बता देता है—

कब तलक विद्वेष की ये खाइयाँ खुदवाओगे?
कब तलक वटवृक्ष पे विष-वल्लरी फैलाओगे?

आज तुम भड़का रहे हो जातिगत नफरत की आग,
देख लेना कल तुम्हीं इस आग में जल जाओगे।।

कवि शिव ओम अम्बर स्वभाव से वाचाल नहीं है। वह मितभाषी तो है परन्तु समाज की पीड़द स्थितियाँ जब उसे विचलित करती हैं तब खरी-खरी बातें कहने से नहीं चूकता—

अपनी आदत चुप रहते हैं या फिर बहुत खरा कहते हैं, हमसे लोग खफ़ा रहते हैं

इस लंबी कविता में कवि का स्वाभिमान इन पंक्तियों में ध्वनित हुआ है—

माथे पर पत्थर सहते हैं छाती पर खंजर सहते हैं
पर कहते पूनम को पूनम मावस को मावस कहते हैं

और यह भी कि—

फाकेवाले दिन को पावन एकादशी समझ रहते हैं
पर मुखिया की देहरी पर जाकर आदाब नहीं करते हैं
अपनी आदत चुप रहते हैं या फिर बहुत खरा कहते हैं,
हमसे लोग खफा रहते हैं।

शिव ओम अम्बर के काव्य-संभार में केवल तीखे तेवर की आक्रोशभरी कविताएँ ही नहीं हैं, मृदु भावों की प्रभावकारी प्रस्तुतियाँ भी हैं। वह जानता है कि—

'सियासत का षडयंत्र अपनी जगह है/मोहब्बत का ऋक् मंत्र अपनी जगह है।'

ध्यातव्य है ये पंक्तियाँ भी—

साँप यों ही नहीं लिपटते हैं, आपकी देह संदली होगी
कृष्ण के पाँव में पड़े छाले, राधिका धूप में चली होगी।

श्रृंगारिक अभिव्यक्ति वाले ये दोहे भी रेखांकित करने योग्य हैं—

शुभे! तुम्हारी दृष्टि में, बाँच गीत-गोविन्द।
खिलें हृदय की झील में, अरुणारे अरविन्द।।
देहयष्टि में ज्यों ढली खजुराहो की शाम।
वो सम्मोहक रूप है फागुन का पैगाम।।

अपने गाँव तथा माँ के प्रति कवि का सम्मान भाव इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

धूल-धक्कड़ हो धुआँ हो धुंध हो बेशक वहाँ
मेरा अपना गाँव फिर भी मेरा अपना गाँव है।
कल्पवृक्षों के घने साये मुबारक हों तुम्हें
मेरे सर पे मेरी माता की ओढ़नी की छाँव है।।

'माँ' शीर्षक कविता में माता की गरिमा एवं महिमा की बड़ी ही प्रभावकारी विवेचना हुई है—

उसके होने से ही मंदिर हर घर है
आँचल की छाया में लोरी रहती है
मंगलवाणी से गायत्री बहती है
उसकी गोदी वैकुंठ धाम की अनुकृति
उसका वक्षस्थल नित्य क्षीर सागर है
उसके होने से ही मंदिर हर घर है।।

अभिव्यक्तिगत वैशिष्ट्य तथा प्रस्तुति की प्रभावोत्पादकता इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

अग्नि के गर्भ में पला होगा / शब्द जो श्लोक में ढला होगा।
दृग मिले कालिदास के जिसको / अश्रु उसका शकुन्तला होगा।।

जीवन की भयावहता, सुख-दुख का आवागमन तथा दोस्तों का दुश्मनों जैसा व्यवहार ग़ज़ल की इन पंक्तियों में सरल परन्तु प्रभावी ढंग से व्यक्त हुआ है—

हर कदम खुदकशी से डरता हूँ/इन दिनों ज़िंदगी से डरता हूँ
सैकड़ों दुःख साथ लाती हैं/अब किसी भी खुशी से डरता हूँ।
ये गली मेरे दोस्तों की है/मैं यहाँ हर किसी से डरता हूँ।।

कवि दोस्त और दुश्मन की गतिविधियों को इस ढंग से देखने का आदी है—

यारों की बेरुखी ज़हर है/ दुश्मन की बर्छी खिताब है/अपना कुछ बेढब हिसाब है।

साथ ही—

जो किसी का बुरा नहीं होता/शख्स ऐसा भला नहीं होता
दोस्तों से शिकायतें होंगी/दुश्मनों से गिला नहीं होता।
फितरतन गलतियां करेगा वो/आदमी देवता नहीं होता।

सामाजिक संबंधों में आत्मीयता का लोप तथा व्यावहारिकता का प्रवेश कवि को पीड़ित करता है। बदलते परिवेश में पत्र-लेखन में आई शिथिलता पर भी उसकी टिप्पणी ध्यान देने योग्य है—

रिश्तों से गायब हुई हार्दिकता की गंध।
अनुबन्धों में ढक गये, सामाजिक सम्बन्ध।।
दूरभाष से क्या जुड़े देशांतर-अक्षांश।
जोग लिखी शुभ चिट्ठियाँ लुप्त हुईं अधिकांश।।

शिव ओम अंबर राजनीति-सामाजिक संदर्भों तथा श्रृंगार के कुशल चितेरे ही

नहीं हैं, आध्यात्मिक गांभीर्य तथा दार्शनिक पीठिका की रचनाओं के सर्जक भी हैं। पुराण, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत तथा श्रीरामचरित मानस जैसे ग्रंथों से अर्जित संस्कारों एवं विचारों से समन्वित कविताएँ उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'शब्दों के माध्यम से अशब्द तक' में संकलित हैं। इन रचनाओं की गंभीरता तथा तलस्पर्शिता की प्रशंसा करते हुए प्रख्यात विद्वान् आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने कृति की भूमिका में लिखा है—

"भौतिकतावाद से ग्रस्त संकीर्ण मानस चेतना जिस प्रकार दूसरों का अनिष्ट कर भी स्वयं को सुखी बनाने की मृग मरीचिका में व्यक्ति को भटकाती है, उससे किसी का कल्याण नहीं हो सकता है। यह प्रेरणा अध्यात्म ही दे सकता है कि दूसरों का अनिष्ट करना भी अपना ही अनिष्ट करना है। सबके सुख में ही अपना सुख है। इसी संकलन की मार्मिक पंक्तियाँ हैं—

क्या किसी पल विचार करते हैं?
वार चाहे किसी पे करते हों,
हम स्वयम् पर प्रहार करते हैं।"

अहंकार-विसर्जन द्वारा ही प्रभु की प्राप्ति की जा सकती है। कवि कहता है—

अहंकार त्यागो उड़ान का महाशून्य के यात्री
हर उड़ान आकाश नापने की असफल गाथा है,
मंदिर में प्रवेश की पहली शर्त झुका माथा है
उसे प्रयत्नों से पाने का चिन्तन, मति-विभ्रम है
वह प्रसाद है, साधुवाद है, आशीषों का क्रम है।

कितनी मार्मिक है एक त्रिपदी—

प्रार्थना संवाद से ज्यादा स्वगत है,
कल्मषों से मुक्त करती है हृदय को
वेदना सम्पृज्य श्रीमद्भागवत है।

अध्यात्म का सान्निध्य ही कवि को इस बात की प्रतीति कराता है—

तम तुम्हारा ज्योति के निर्झर तुम्हारे हैं
चूमता हूँ मैं सुखों को भी, दुखों को भी
जानता हूँ दोनों हस्ताक्षर तुम्हारे हैं।

अम्बर की रचनाओं में परिनिष्ठित हिन्दी तथा खड़ी बोली के सहज शब्दों का एक साथ समावेश देखा जा सकता है। उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में, प्रचुर मात्रा में हुआ है। पेश हैं उर्दू रवानगी तथा परिनिष्ठित हिन्दी की छटा के दो उदाहरण—

इक तरफ बागी मशालें इक तरफ शाहेजहां
देखना है ये कहानी खत्म होती है कहां।
इस गली में कैफियत मत पूछिए नाचीज़ की,
बेजुबानों में कहीं से आ बसा है बदज़बाँ।।

लेखनी के पास हस्ताक्षर नहीं है
यक्ष-प्रश्नों के लिए उत्तर नहीं है।
अग्निगर्भा कोख बंध्या लग रही है
अक्षरों के वंश में दिनकर नहीं है।

शिव ओम अम्बर ने 'अक्षरों के वंश में दिनकर नहीं है' कहकर भले ही साहित्यिक स्तर पर ओजस्विता के अभाव पर अपनी चिन्ता प्रकट की हो परन्तु हम आश्वस्त हैं साहित्यिक मंच पर अम्बर जैसे कवियों की उपस्थिति से, जो अपने कविपरक उत्तरदायित्व एवं स्वाभिमान दोनों की रक्षा तेजस्विता के साथ कर रहे हैं। उनका संकल्प है—

या बदचलन हवाओं का रुख मोड़ देंगे हम
या खुद को वाणीपुत्र कहना छोड़ देंगे हम।
जिस दिन भी हिचकिचायेंगे लिखने में हकीकत
कागज को फाड़ देंगे कलम तोड़ देंगे हम।। ●

लोक का आलोक

समाज के सुस्वास्थ्य और जीवन की सुमधुरता के लिए लोक-साहित्य की सर्वाधिक आवश्यकता है। लोक साहित्य मन को स्वच्छ कर हृदय का मैल दूर बहा देता है। हमारे यहाँ प्राचीन काल से लोक और वेद की समान महिमा वर्णित की गई है। यानी समाज में एक मार्ग है जो वेद द्वारा निर्देशित है, दूसरा लोक द्वारा मर्यादित है। लोक-साहित्य जन-मानस की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति होता है, यह लिखा नहीं जाता, अपनी मौखिक परम्परा में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक यात्रा करता रहता है।

डॉ० सत्येन्द्र ने 'लोक' शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि लोक मनुष्यसमाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य, संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।

आरम्भ में लोक शब्द को जब असाक्षर, असंस्कृत जैसे लोगों से जोड़ा गया तो उसका आधार सामाजिक था फिर उसके बाद उसे आदिम समाज से जोड़कर जातीय रूप दिया गया। फिर कृषक और ग्राम्य संस्कृति से युक्तकर उसे भौगोलिक आधार प्रदान किया गया।

व्याख्या की इन विविध भाव-भूमियों को दरकिनार कर हम यह कह सकते हैं कि लोक नगरों और ग्रामों में फैली समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।

जन-संस्कृति का जैसा सच्चा तथा सजीव चित्रण लोक-साहित्य में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। सरलता, स्वाभाविकता और सरसता के कारण यह अपना विशेष महत्त्व रखता है। लोक साहित्य लोकजीवन का सजीव, अनगढ़ और प्राचीनतम माध्यम है। लोक साहित्य की अर्थगत व्याप्ति अत्यन्त विस्तृत है। यह किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा निर्मित नहीं होता— इसके पीछे परंपरा विद्यमान

रहती है जिसका संबंध समाज से है— इसकी अभिव्यक्ति सामूहिक होती है। वे समस्त मौखिक अभिव्यक्तियाँ जो हमारे व्यक्तित्व के कटघरे के बाहर की हैं तथा जो समाज की आत्मा को व्यक्त करने की क्षमता रखती हैं— लोक-साहित्य की श्रेणी में आती हैं। शिष्ट के समानान्तर लोक को रखकर यदि बात करें तो कह सकते हैं कि लोक-साहित्य में आडम्बरहीन स्वाभाविकता होती है तो शिष्ट साहित्य में शास्त्रीय नियमों और कलात्मकता का आग्रह अधिक होता है। लोक साहित्य में स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति होती है अतः उसका क्षेत्र परिनिष्ठित साहित्य से अधिक व्यापक है। उसके पास अनुभव की विशाल पूँजी होती है, वह जन-समाज के हृदय का स्पन्दन है। वह एक प्राकृतिक धारा है जो स्वच्छन्द रूप से बहती रहती है। लोक जीवन की भावात्मक अभिव्यक्ति लोक साहित्य में उपलब्ध होती है। लोक-जीवन के समस्त संस्कारों— जन्म, विवाह, मरण आदि की भावनाएँ एवं अनुभूतियाँ लोक-साहित्य रूपों में अभिव्यक्ति पाती हैं। लोक साहित्य रूपों में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श निहित है। लोकगीतों, गाथाओं, कथाओं, लोकोक्तियों, मुहावरों एवं पहेलियों का अतुल भंडार लोक साहित्य में मौजूद है।

लोक-कथा, लोक-गीत, लोक-संगीत, लोक-कला— इन सभी में प्रतिरोध की अद्‌भुत क्षमता है। पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय विसंगतियों को रेखांकित कर समाज-मंगल की अकृत्रिम परन्तु प्रभावी चेष्टा लोक-साहित्य में है।

इस प्रभाव की सर्वाधिक सृष्टि होती है लोक-भाषा के संस्पर्श से। लोक चित्त की सहज-सूक्ष्म अभिव्यक्ति लोकभाषा के माध्यम से ही होती है। लोक भाषाओं के बहुत से शब्द हैं जिन्हें हिन्दी कोश में शामिल कर लेने से खड़ी बोली समृद्ध हो सकती है। इन शब्दों की व्यंजना और गांभीर्य दोनों प्रभावित करते हैं।

समाज की बड़ी समस्याओं का समाधान शिष्ट भाषा और शिष्ट साहित्य की अपेक्षा लोक-भाषा में अधिक सहज है क्योंकि उसका प्रहार मारक होता है; उसमें लाग-लपेट नहीं है, लल्लो-चप्पो नहीं है। कई बार तो जो काम कानून या संविधान नहीं कर पाता उसे लोक-साहित्य अपनी सहज अभिव्यक्ति में करने का सूत्र प्रदान करता है। सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक आन्दोलनों में लोक-भाषा के साथ-साथ लोक-गीत की शैली में लिखी रचनाओं की महिमा सर्वविदित है। पेश हैं समाज की विसंगतियों के कुछ चित्र और लोक-भाषा में रचित कविताएँ—

मैं अवध क्षेत्र के बैसवाड़ा अंचल का मूल निवासी हूँ। वहाँ के चर्चित कवि रमई काका ने 'धरती हमारि' कविता में अपनी भूमि का गौरव बखान करते हुए आत्मीयता और सम्मान का भाव प्रकट किया है—

धरती हमारि, धरती हमारि
अपने चरनन कै धूरि जहाँ, बाबा दादा धरिगे सँभारि

कवि की 'अन्न देवता' कविता में एक-एक दाना अन्न की महत्ता को स्पष्ट करते हुए माता अपने बेटे को समझा रही है कि तुम अन्न को बिखेरो मत—उसे बरबाद मत करो— *'कहि रही घरैतिन मुनुवाँ ते ऐ पूत अन्न बिखराव न तुम'*

इसी कविता की आगे की पंक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक हैं—

मूठी भर छिरके दाना ई बिनि लाव पूत तुम बोरिया मा।
ना जानै कबधौं जाय परैं ई केहि की भूखी झोरिया मा।।
ई दानन के हित हाथु पसारैं, दीन दुखी धरि अजब भेसु।
बेई दानन के कारन ते, भूखन मरिगा बंगाल देसु।।

इसी प्रकार चर्चित कविता 'धोखा हुइगा' कविता में रमई काका ने आधुनिकाओं की फैशनपरस्ती पर व्यंग्य करते हुए जो भाव प्रकट किए हैं वे अपनी अनगढ़ता में भी प्रभाव की सृष्टि करते हैं—

हम गयेन याक दिन लखनउवै, कक्कू संजोग अइस परिगा
पहिलेहे पहिल हम सहरु दीख, सो कहूँ-कहूँ धोखा होइगा।
हम गयेन अमीनाबादै जब, कुछ कपड़ा लेय बजाजा मां
माटी कै सुघर मेहरिया असि, जहँ खड़ी रही दरवाजा मां
समझा दुकान कै यह मलकिन, सो भाव-ताव पूछै लागेन,
याकै बोलेन यह मूरति है, हम कहा बड़ा धोखा होइगा।

आगे है—

म्वाछन का कीन्हे सफाचट्ट, मुँह पउडर औ सिर केस बड़े।
तहमत पहिने अंडी ओढ़े, बाबूजी याकै रहैं खड़े।
हम कहा मेम साहेब सलाम, उइ बोले चुप बे डैमफूल,
मैं मेम नहीं हूँ साहेब हूँ, हम कहा फिरिउ धोखा हुइगा।।

दहेज की विकराल समस्या, जिस पर कानून का दबाव भी लगभग अप्रभावी सिद्ध हुआ है— लोकभाषा (बैसवाड़ी) में उस पर काका बैसवारी की व्यंग्यपरक टिप्पणी—

हम तो समाज के सेवक हैं, हमका दहेज बिलकुल न चही।
बस एक रुपइया धरि दीन्हेव, बाकी सब कुछ तुम्हरहै रही।।

केवल एक रुपए के दहेज में बेटे का विवाह करने का ढोल पीटने वाले

समाजसेवकों पर कवि ने तिर्यक ढंग से प्रहार किया है। दहेज लोभी तथाकथित समाजसेवक कहता है—

तुम एक हजार बरातिन का अच्छा स्वागत करवा दीन्हेव,
टी.वी., फ्रिज, अलमारी, सोफा-सेट, डबल-बेड सजवा दीन्हेव।
अपनी बिटिया के पहिरे का सारा जेवर बनवा दीन्हेव,
अपने दमाद के घूमै का मारुती याक मँगवा दीन्हेव।
हीरा अस लरिका सौंपि दीन अब यहिके आगे काह कही
हम तो समाज के सेवक हैं, हमका दहेज बिलकुल न चही।।

राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपने ही देश में उसका प्राप्य नहीं मिल पा रहा है, इसके लिए आखिर कौन जिम्मेदार है? इस स्थिति पर एक सीधी-सादी परन्तु मार्मिक टिप्पणी भोजपुरी में डॉ० चन्द्रदेव सिंह की—

देसी अँगरेजवन के इहे कारनामे बा।
इंडिया आजाद भइल भारत गुलामे बा।।
अइसन सुराज कतहूँ दुनिया मां न पइबऽ।
कुतिया बा कमरा मा गाइ जरत घामे बा।।
अंगरेजी रही तब ले, रहिहें अंगरेज जब ले।
इनका मा उनका मा फरक खाली चामे बा।।

प्रतिरोध की अद्‌भुत शक्ति लोक-साहित्य में है। सामाजिक विषमता पर प्रहार करते हुए लोक-कवि कहता है—

बनी नया समाज अब, समाज ई पुरान बा।
अमीर बा सुखी जहाँ, गरीब बा दुखी जहाँ,
जहाँ गरीब से भला, कहीं सियार स्वान बा।।
जहाँ अमीर सो रहल, जहाँ गरीब रो रहल
जहाँ अमीर के महल, गरीब के मचान बा।।

समाज के कुस्वास्थ्य और जीवन की विसंगतियों पर लोक साहित्य प्रहार करने में सक्षम है। लोक साहित्य की यह खासियत है कि वह मन का मैल दूरकर हृदय को स्वच्छ कर देता है। लोक-भाषा के शब्दों के माध्यम से हम अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त कर सकते हैं। लोकभाषाओं के बहुत से शब्द हैं जिन्हें हिन्दी कोष में शामिल कर लेने से खड़ी बोली समृद्ध हो सकती है।

और अन्त में आज के माहौल की कविता—चुनाव का मौसम है—न्यायालय ने कई प्रकार के बंधन प्रत्याशियों पर लगाए हैं परन्तु स्वच्छ छवि वाले उम्मीदवारों की

कमी कैसे हमें पीड़ित करती है, डॉ० चन्द्रदेव सिंह की एक भोजपुरी रचना इस पर व्यंग्यात्मक लहजे में प्रकाश डालती है—

अबकी के के बोट दियाई, तुही बतावऽ राम खेलावन?
केकरा से ई देस जुड़ाई, तुही बतावऽ रामखेलावन?
किसिम-किसिम क झंडा देखऽ, रकम-रकम कऽ नारा सुनि लऽ
कवनों कऽ करतब मत पूछऽ, इन्हनें में से एगो चुन लऽ
बरिस-बरिस ले जेहल खटि के, वोटवे पऽ छुटलं हंऽ भाई
तुहीं बतावऽ राम खेलावन अबकी केकरा बोट दियाई।।

दो मित्रों के बीच सहज बातचीत के माध्यम से कवि ने राजनीति के अवमूल्यन और प्रत्याशियों की आपराधिक छवि का दिग्दर्शन कराते हुए इसी रचना का समापन यों किया है—

एक सरगना तस्करियन कऽ दूसर बा डाकुन कऽ दादा
तीसर बम कऽ व्यापारी हऽ चउथा कऽ बा साफे वादा
अगर कहीं ऊ हार गइल तऽ समझऽ सगरो गाँव फुकाई
तुहीं बतावऽ राम खेलावन, ए में के-के वोट दिआई?

कहने की आवश्यकता नहीं कि देश के राजनीतिक परिदृश्य में ऐसे ही यशस्वी (?) उम्मीदवार भरे पड़े हैं, परन्तु लोक भाषा में दो निपट ग्रामीणों की बातचीत मानो समस्या के घृणित रूप को उजागर कर देती है।

अंततः कह सकते हैं कि लोक के समस्त स्रोत चाहे वह लोक-कला हो, लोक साहित्य हो, लोक संगीत हो या लोक संस्कृति— सभी मानव मूल्यों का सृजन कर समाज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। लोक हमारा वह समाज है जो अपनी सहजता, अकृत्रिमता एवं आडंबरहीनता के कारण मनुष्य, प्रकृति, पशु सबकी भलाई का चिन्तन करनेवाला है। लोक हमारे अंतःकरण का एक प्रकाश है जो जीवन को ज्योतित करता है। लोक के लोप से ही हम आलोकविहीन होते जा रहे हैं अतः लोक से जुड़कर ही हम व्यक्ति और समाज को ऊर्जा-सम्पन्न कर सकते हैं। ●

कौन थे, क्या हो गए हैं.....

आद्य शंकराचार्य ने शतश्लोकी में सद्गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है—

दृष्टांतो नैव दृष्टः त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः।
स्पर्शश्चेत्तत्रकल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारं।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये।
स्वीयं साम्यं विधते भवति निरुपमः तेन वा लौकिकोऽपि।।

अर्थात् ज्ञान देनेवाले गुरु के लिये समस्त त्रिभुवन में कोई उपमा नहीं दी जा सकती है। पारस पत्थर से भी वह उपमेय नहीं है क्योंकि पारस तो लोहे को सोना ही बनाता है, पारसमणि नहीं बनाता; जबकि गुरु शिष्य को अपने जैसा ही बना देता है। इस दृष्टि से सामान्य अध्यापक भी निरुपमेय है। यही भाव कबीर की इस पंक्ति में भी व्यक्त हुआ है— *'पारस तो कंचन करै गुरु करै आपु समान।'*

भारतीय संस्कृति में आदिकाल से ही गुरु को विशेष सम्मान प्राप्त रहा है। गुरु को शिष्य का आध्यात्मिक-पिता माना जाता रहा है। अज्ञान के अंधकार को दूर करने के कारण; प्रकाश का, ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करने के कारण गुरु को माता-पिता ही नहीं ईश्वर से भी श्रेष्ठ मानकर उसकी आराधना का विधान रहा है। हमारी आंतरिक श्रद्धा का जब गुरु पर आरोपण होता है तो उसके स्मरण मात्र से भी बहुत कुछ ज्ञान अर्जित किया जा सकता है। एकलव्य की कथा सर्वविदित है।

सद्गुरु, गुरु, आचार्य, अध्यापक, शिक्षक और अब टीचर सिर्फ बदले हुए पदनाम हैं। इनका यह अर्थ कदापि नहीं कि केवल अध्यात्म, मंत्र-शास्त्र, योग तथा शास्त्रादि गूढ़ विषयों का ज्ञान करानेवाला ही गुरु है बाकी सामान्य शिक्षक हैं। यह सही है कि सद्गुरु की महिमा को प्राप्त करने के लिये जिस पात्रता की अनिवार्यता होती है वैसी परवर्ती काल के अध्यापकों में क्रमशः क्षीण होती गयी है परंतु यह भी सच है कि शिक्षा प्रदान करनेवाला हर व्यक्ति उस महत्ता का अधिकारी है। ऊपर के श्लोक में शंकराचार्यजी ने सामान्य अध्यापक को भी निरुपमेय कहा है।

इधर के वर्षों में बहुत से मूल्य, सिद्धांत और पदों का अवमूल्यन हुआ है।

आम जनता की नजर में सर्वाधिक चिंताजनक अवमूल्यन राजनेताओं का हुआ है, परंतु दुखद प्रसंग यह है कि शिक्षा का, अध्यापन का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा है। अध्यापकों के प्रति सम्मान का भाव आखिर क्यों घटता जा रहा है? इसकी पड़ताल आवश्यक है। आज हर अध्यापक को स्वयं यह आकलन करना चाहिए कि

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।।

आखिर वे कौन से कारण हैं जिन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही क्या परब्रह्म के रूप में सम्मानित, पूज्य तथा सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित गुरु को उस स्थान पर ला खड़ा किया है जहाँ उसकी हैसियत महज 'ज्ञान विक्रेता' की रह गयी है— उसकी मान प्रतिष्ठा तथा उसके प्रति श्रद्धा का भाव केवल ऊपरी रह गया है। कवि रमानाथ अवस्थी के शब्दों में शिक्षक-समाज कह सकता है— *सम्मान सहित हम सब कितने अपमानित हैं।*

लेकिन दुखद सच्चाई तो यह है कि इस पीड़ा का बोध उन्हें नहीं है— जिन्हें वास्तव में होना चाहिए। दुःख से द्रवित हैं वे अध्यापक, जो आज भी अपनी गरिमा और महिमा की रक्षा हेतु तमाम संकटों के बाद भी डटे हुए हैं।

एक समय वह था जब सामान्य आवश्यकताओं से ही शिक्षक संतुष्ट हो जाया करता था। शिक्षक के पेशे को वह यह सोच समझकर स्वीकार करता था कि उससे अभाव का जीवन व्यतीत करते हुए भी चारित्रिक दृष्टि से दृढ़ और ज्ञानार्जन हेतु सतत जागरूक रहना पड़ेगा। उसकी संपत्ति हुआ करते थे उसके द्वारा सुशिक्षित विद्यार्थी। इन विद्यार्थियों का बखान करके वह गौरवान्वित होता रहता था। परंतु आज की स्थिति बिलकुल उलट है। सामान्य जनों के बीच शिक्षक की योग्यता की परख उसकी शैक्षणिक उपाधियों से नहीं होती, उसके योग्य विद्यार्थियों से भी नहीं— ट्यूशन के ग्रुपों से तय होने लगी है, कोचिंग से होने वाली आय से निर्धारित हो रही है। बाढ़ आ गयी है ऐसे गुरुओं की, जो शिष्यों का वित्त हरण कर रहे हैं। दुर्लभ हैं वे गुरु जो अपनी ज्ञान गरिमा से, चरित्र से, आदर्श से विद्यार्थियों का चित्त हरण कर लें—

बहवः गुरवः सन्ति शिष्य वित्तापहारकाः
दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः।

कहते रहें तुलसीदास कि *'हरइ शिष्य धन सोक न हरई, सो गुरु घोर नरक महँ परई'* सुनने वाला है कौन? समझाते रहें कालिदास कि *'यस्यागमो केवल जीविकाये तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति'* (जिसका ज्ञान केवल जीविका हेतु, अर्थोपार्जन हेतु है, वह अध्यापक ज्ञान बेचने वाला बनिया है) किसको फिक्र है? क्योंकि आज तो धन से ही

सारे स्वर्गीय सुख सुलभ हैं। अर्थ बिना सब कुछ व्यर्थ है। इसीलिए उसे बटोरने में लग गया है अध्यापक भी।

व्यावहारिक दृष्टि से जीवन की व्याख्या करने वाले लोग इसे सही मानेंगे। वे कहेंगे कि जीवन की जटिलताओं और अपेक्षाओं की संपूर्ति हेतु अर्थ की महत्ता सर्वोपरि है अतः जरूरत के क्षणों में अध्यापक की वेदना कौन समझेगा? जिस युग में गुरुकुल की महिमा प्रतिष्ठापित थी उस काल में अध्यापक की आवश्यकताओं की पूर्ति गुरु दक्षिणा से या राजा की ओर से हुआ करती थी, परंतु आज वैसी स्थिति नहीं है। आज के शासकों एवं अधिकारियों के लिये अध्यापक मानो दोयम दर्जे का नागरिक है। उससे निर्देश पाना तो दूर, समय-समय पर उसे ही उपदेश देने की चेष्टा शासन की ओर से की जाती है।

ऐसे परिवेश में अध्यापक को अतिरिक्त उपार्जन हेतु 'ट्यूशन' और 'कोचिंग' पद्धति का सहारा लेना ही पड़ता है। इस प्रक्रिया में कुछ अध्यापक इस कदर तल्लीन हैं कि मुख्य कार्य विस्मृत कर इसी को प्रधान मान बैठे हैं। विद्यार्थी और अध्यापक दोनों भूल गये हैं कि अध्ययन और अध्यापन दोनों ही 'तप' है। 'छात्राणां अध्ययनं तपः' कहकर छात्रों को तथा तैत्तिरीयोपनिषद में अध्यापन को तप कहकर अध्यापकों को इसकी महत्ता बताई गयी है। परंतु आज तो अध्यापन ने 'तप' का रूप त्याग कर 'इंडस्ट्री' का रूप धारण कर लिया है। अर्थ प्राप्ति की अंधी दौड़ में लीन अध्यापक शिष्यों को क्या ज्ञान देता होगा, इसकी सहज ही अनुभूति की जा सकती है। संभवतः तुलसी ने ऐसे ही लोगों के लिये लिखा है—

'गुरु सिस अंध-बधिर का लेखा
एक न सुनइ एक नहिं देखा।'

ऐसे गुरु-शिष्यों के लिये कबीर का भी दो-टूक निर्णय है—

जाका गुरु भी अंधड़ा चेला खरा निरंध।
अंधै अंधा ठेलिया दोनूं कूप पडंत।।

घनघोर अंधकार को दूर करने की जिम्मेदारी है गुरु की— *'गुह्यदयान्धकारं रावयति दूरी करोतीति गुरुः।'* अज्ञान के अंधकार को विनष्ट कर ज्ञान के प्रकाश को विकीर्ण करना ही गुरु का काम है। तभी तो सच्चे गुरु की प्राप्ति हेतु सब कुछ अर्पित करने का विधान है—

यह तन बिस की बेलरी गुरु अमरित की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।।

इसलिये आज आवश्यकता है कि अध्यापक को उसकी महिमा का स्मरण

कराया जाए। वह इस बात की अनुभूति करे कि उसके पास सबसे बड़ा धन है, उसके पास देने के लिये सबसे बड़ा दान है। भर्तृहरि ने लिखा है—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः।

अर्थात् विद्या ही मनुष्य की शोभा है, विद्या ही मनुष्य का अत्यंत गुप्त धन है। विद्या भोग्य पदार्थ, यश और सुख देने वाली है। विद्या गुरुओं की भी गुरु है अर्थात् उनसे भी अधिक पूज्य है।

इसी प्रकार 'विद्यादानं सर्वदानं प्रधानं' की प्रतीति भी आवश्यक है। यही अनुभूति अध्यापक को वह ऊँचाई प्रदान करेगी जहाँ वह अपने को दीन-हीन नहीं अत्यंत समृद्ध अनुभव करेगा, अर्थाभाव का उसका हीनत्व बोध दूर होगा।

तमाम परिवर्तनों एवं अर्थोपार्जन की अंधी दौड़ के बीच भी आज ऐसे अध्यापकों की कमी नहीं है, जिन्होंने इसे व्यवसाय नहीं बनाया है। इसकी गरिमा को सुरक्षित रखा है। याद आ रही है एक आप-बीती।

हायर सेकेंडरी तक विज्ञान विभाग का विद्यार्थी होने के कारण अपने स्नातकीय अध्ययन के दौरान जब मुझे राजनीति शास्त्र (आनर्स) विषय में अड़चन महसूस हुई तो मैंने अपने महाविद्यालय के प्राध्यापक से मदद पाने की इच्छा व्यक्त की। चूंकि कक्षा में मेरी एकाग्रता को उन्होंने लक्षित किया था अतः बड़े स्नेह से उन्होंने प्रत्येक रविवार को घर आने का निमंत्रण दे डाला। अपने एक सहपाठी मित्र के साथ मैं उनके आवास पर प्रति रविवार जाने लगा। एक महीना बीत जाने पर जब हम दोनों उन्हें सम्मान राशि देने लगे तब उन्होंने उसे अस्वीकार करते हुए जो बातें कहीं वे आज भी मेरे कानों में गूंज रही हैं। उन्होंने कहा, "अपने अध्ययनकाल में मैं घोर आर्थिक संकट में था। स्थिति यह थी कि फुटपाथ पर आलू के ढेर लगाकर दिन में आलू बेचता था और शाम के कॉलेज में पढ़ने जाया करता था। मेरी स्थिति का अंदाजा जब एक प्रोफेसर को लगा तो उन्होंने मुझे निःशुल्क पढ़ाया था और मुझसे यह वचन लिया था कि जब तुम कभी अध्यापक बनना तो जरूरतमंद, योग्य विद्यार्थियों को बिना ट्यूशन फीस लिये पढ़ाना। मैं उन्हीं के आदेश का पालन कर रहा हूँ। चूंकि तुम दोनों ही पूरी कक्षा में परिश्रमी विद्यार्थी लगते हो अतः मैं तुमलोगों की पूरी मदद करूंगा।" हम दोनों अवाक् मुद्रा में श्रद्धानत हो गये।

मेरा सौभाग्य है कि मैंने अपने विद्यालयीय, महाविद्यालयीय और विश्वविद्यालयीय अध्ययनकाल में ऐसे तमाम शिक्षकों का सान्निध्य प्राप्त किया है। प्रचलित ट्यूशन बाजार में भी आज ऐसे अनेक अध्यापक हैं जो जरूरतमंद विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ाते हैं और योग्य विद्यार्थियों की पूरी सहायता करते हैं। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र

में जिन 'धुरि प्रतिष्ठा के अधिकारी' शिक्षकों की चर्चा की है— वैसे प्राध्यापकों से शिक्षा प्राप्त करने का हममें से कई लोगों को सौभाग्य मिला है। आज भी देशभर में ऐसे अनेक प्राध्यापक हैं जो 'आकाशधर्मी' गुरु की भूमिका निभाकर अपने विद्यार्थियों के सर्वतोमुखी विकास में सहायक हैं।

पीड़ादायक सच्चाई यह है कि इधर के वर्षों में समर्पित निष्ठावान अध्यापकों की कमी नज़र आने लगी है। अध्यापन को 'मिशन' नहीं 'प्रोफेशन' बनाने वाले लोगों की भीड़ लग गयी है। व्यक्तित्व, रहन-सहन, जीवन-शैली, आचरण हर क्षेत्र में अपेक्षित गरिमा का अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। पुत्रवत् स्नेह और आत्मीय संपर्क अब अतीत की बातें होती जा रही हैं। सारी व्यवस्था का व्यवसायीकरण हो गया है।

आखिर क्यों आ गयी है यह स्थिति? सहानुभूतिपूर्वक विचार करके यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आदर्श की जानकारी होते हुए भी अध्यापक को यथार्थ के धरातल पर आकर खुद को परिवर्तित करने हेतु विवश होना पड़ता है। सामाजिक स्तर पर मान-प्रतिष्ठा के निर्द्धारण में अर्थ की महत्ता भी इसके लिए उत्तरदायी है। ऐसा नहीं है कि आदर्श उसे विस्मृत हो गये हैं। ऐसा भी नहीं है कि वह शिक्षकीय गरिमा से अवगत नहीं हैं लेकिन जब समाज में अर्थ की ही सर्वाधिक महत्ता बढ़ती जा रही है तो शिक्षक भी वही रास्ता चुन लेता है। आदर्श और यथार्थ की टकराहट उसे न इधर का रखती है न उधर का। ऐसे में वह न आदर्श संभाल पाता है न यथार्थ। 'आधा तीतर आधा बटेर' वाली स्थिति में अटककर पूरी तरह प्रोफेशनल बनकर ही उसकी चरम परिणति होती है।

इन परिस्थितियों के बावजूद निराश होने की आवश्यकता नहीं है। इस विस्तृत अध्यापकीय समाज में आज भी कुछ ऐसे लोग हैं जो हमारे आदर्श हो सकते हैं। उदात्त भारतीय संस्कृति की यह अद्‌भुत विशेषता है कि हम सर्वत्र विजय की अभिलाषा रखते हुए भी दो क्षेत्रों में पराजय की कामना करते हैं—

सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्।

हम अपने पुत्रों से हार जायें, हम अपने शिष्यों से हार जायें तथा हारकर भी गौरवान्वित हों—इस दिशा की ओर अग्रसर होकर ही अध्यापक अपनी गरिमा की रक्षा कर सकेगा। यह तभी संभव होगा जब अध्यापक उदार, स्नेही, तेजस्वी, विद्वान तथा चरित्रवान हो। दादू की पंक्ति है— *साँचा समरथ गुरु मिला जिन तत दिया बताइ।*

उम्मीद की जानी चाहिए कि सभी को दादू की भाँति सच्चा और समर्थ गुरु प्राप्त होगा। ●

फागुन फिर महका है, कवि-मन भी बहका है

उमंग, उल्लास, आनन्द, अनुराग, आत्मीयता का पवित्र पर्व होली अपनी रंगीनी के साथ हाजिर है। हमारे अन्तःकरण के हुलास और प्रमुदित मन का प्रकटीकरण करनेवाला यह मोहक त्यौहार राग-द्वेष, ईर्ष्या, मद, मत्सर एवं कलुषित भावों का दहन कर परस्पर प्रेम, सद्भाव एवं भाईचारे की भावना का विकास करता है। अनुराग का अबीर, गुणों का गुलाल, प्रेम की पिचकारी, गीतों की गूँज तथा मृदंग-मँजीरे की मस्ती —सभी मिलकर होली की तरंग और उमंग को नया रूप प्रदान कर देते हैं। यह ऐसा पर्व है जिसमें ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, छोटे-बड़े सभी का भेद मिट जाता है—सभी प्रेम के रंग में डूब जाते हैं।

हमारे पर्व-त्यौहार हमें मानव-धर्म सिखाते हैं। लोक-मन से सबसे गहराई से जुड़ा है होली का त्यौहार। आम और खास सभी इस मौके पर अपने अंतःकरण की खुशी को सीमित दायरे से मुक्त कर विकसित करते हैं और उस आनन्द में सबको शामिल कर लेना चाहते हैं। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के कवियों ने इस त्यौहार को अपनी रचना का विषय बनाकर अपने भाव प्रकट किए हैं। परामर्श है कवि ऋषि शंकर दीक्षित का—

तन को केवल रँग लेने से पावन मन न बनेगा,
मात्र बरस जाने से ही मौसम सावन न बनेगा।
आओ तज कलुषित भावों को, रँग लें मन का कोना,
यह होली की सीख इसे अंतर में सदा सँजोना।।

द्वारिकापुरी में कोयल की कूक कृष्ण को वृन्दावन की होली की स्मृति करा देती है। प्रतिष्ठित कवि गुलाब खंडेलवाल की पंक्तियाँ हैं—

द्वारिका में जब कोयल बोली
याद आ गई मनमोहन को राधा की छवि भोली।
याद आ गई प्यारी गायें, वृन्दावन की कुंज लताएँ
सोचा अबकी ब्रज में जायें, पुनः खेलने होली।।

गीतकार नीलम श्रीवास्तव 'फागुनी निशा महके ज्यों हिना' कहकर यह स्वीकार करते हैं कि, *'फागुन है, गंध है, हवा है/ मन ही अब दूसरा हुआ है।'*

फागुनी बयार के कारण मन का यह रूपांतरण बच्चे-बूढ़े सभी को प्रभावित कर लेता है। कवि डॉ० रामकुमार त्रिपाठी का मुक्तक है—

मधुमास में हर द्वार चहक जाते हैं,
कलियों के साथ काँटे भी महक जाते हैं।
इस फागुनी बयार की मत बात पूछो ऐ दोस्त,
बच्चे ही नहीं, बूढ़े भी बहक जाते हैं।।

इसी भाव को प्रगट करते हैं कविवर गोपालदास 'नीरज' के दो दोहे :

फागुन में ऋतुराज ने, बदली यूँ तस्वीर।
बुढ़िया तनी कमान-सी, बुढ़ऊ बन गए तीर।।
प्राण प्रिये! इस क्षण करो और न कोई बात।
रोज़-रोज़ आती नहीं, ये फागुन की रात।।

बौराई आम्र मंजरियाँ इस बहक को और बढ़ा देती हैं। कविवर छविनाथ मिश्र की कई रचनाओं में इसका प्रभावी अंकन है। वे कहते हैं, *'आमों के बौर और मन के संवेगों को/ छूते ही फागुन की नयी हवा बहक गई।/ओठों पर महक गई।'* दूसरे गीत में यह वर्णन और भी आकर्षक है—

फागुन कुछ महका है
तन-मन कुछ बहका है
पूरी की पूरी अमराई बौराई है।
हर गोरी गाँव की, गुलाल में नहाई है
ओठों पर होली की भाषा अरराई है।

एक अन्य चित्र—

फागुन फगुनाया है फाग रंग में
डूबे हैं लोग-बाग रंग-रंग में
मौसम बौराया है भंग-रंग में।

भंग-भवानी के प्रभाव से बहक और भी बढ़ जाती है। सनेही काव्य-पाठशाला के सशक्त कवि पं० अभिराम शर्मा इसे 'विजया-विलास' के रूप में यों वर्णित करते हैं—

भर दे गिलास, भर दे गिलास, प्रिय होने दे विजया विलास।।
भर दे सुषमा, सौरभ हुलास, भर दे, भर दे, भर दे गिलास।।

जहाँ गीतकार डॉ० बुद्धिनाथ मिश्र 'फागुन के दिन बौराने लगे फागुन के' गीत में *'दबे पाँव आकर सिरहाने/हवा लगी बाँसुरी बजाने'* कहकर पूरे परिवेश को नया आयाम देते हैं वहीं कवि डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी होली के आने और पर्व बीत जाने के बाद भी अनास्था, विषमता और कुंठा की उपस्थिति से उद्विग्न हैं—

होली प्रतिवर्ष आती और चली जाती है,
केवल विषाद-राख शेष रह जाती है।
शेष रह जाती है अनास्था विषमता यहाँ,
कुंठा हर कंठ में निवास कर जाती है।।

शिव ओम अंबर ने फागुनी परिवेश को यों प्रस्तुत किया है—

दहकी-दहकी दोपहर, बहकी-बहकी रात।
फागुन आया गाँव में, लेकर ये सौगात।।

यही कारण है कि संदर्भों को नया अर्थ देने की मनोकामना के साथ छविनाथ मिश्र आह्वान करते हैं—

'आओ संदर्भों का एक नया अर्थ गढ़ें
स्वर की पिचकारी से सारा मन सींचें हम
फागुनी पलाश रंग आस्था उलीचें हम।।'

कविवर नूतन इस दिशा में सार्थक पहल करते हुए परिवेश को राष्ट्रीय संदर्भ प्रदान कर देते हैं। वे 'नूतन होली' शीर्षक अपनी रचना में कहते हैं—

पीटो पुरानी लकीर नहीं, बनो वीर, करो नहीं ओछी ठिठोली
दो सराबोर नये रंग में, निज भारत को मिलके हमजोली।

आशुकवि जगमोहन नाथ अवस्थी होली का वास्तविक अर्थ बताते हुए कहते हैं—

'मिटाकर छल-कपट, मिल लो, यही है अर्थ होली का'

रीतिकालीन कवियों का राधा-कृष्ण के माध्यम से व्यक्त होली-वर्णन हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य निधि है। उस काल का शायद ही कोई ऐसा कवि होगा जिसका मन मनमोहन कृष्ण और वृषभानुदुलारी राधा की होली पर न रमा हो। कवियों में सर्वाधिक प्रभावी छंद लिखे हैं पद्माकर ने। उनके होली छंदों में सबसे ज्यादा चर्चित है वह छंद जिसमें ढीठ नायिका कृष्ण को एकांत में ले जाकर मनमाने ढंग से रँगती है, अबीर से सराबोर कर देती है, कपोलों पर रोली मल देती है, उनका पीताम्बर छीन लेती है और अंत में शरारत भरी मुस्कुराहट के साथ आँखें नचाकर कहती है— *'लला फिरि आइयो खेलन होरी'*। पूरा छंद इस प्रकार है—

फाग के भीर-अभीरन में गहि गोबिन्द लै गई भीतर गोरी,
भाय करी मन की 'पद्माकर' ऊपर नाय अबीर की झोरी।
छीनि पितंबर कंबर तें सुबिदा दई मीड़ि कपोलनि रोरी,
नैन नचाय कही मुसकाय लला फिरि आइयौ खेलन होरी।।

राधाजी ऐसी शरारत करें और कृष्ण उसका माकूल जवाब न दें— यह असंभव है। भले ही पद्माकर ने इसका उत्तर अपने छंदों में न दिया हो किन्तु आधुनिक कवि आत्म प्रकाश शुक्ल ने उसका प्रभावी उत्तर दिया है—

ढीठ गोपाल, जसोदा के लाल ने, गैल में घेरि करी बरजोरी
देखत पौरि में दौरि दुरी, लपटाइ लियो औ कियो झकझोरी
लाल गुलाल सों लाल करी, पुनि पाछे उठाय कै नाँद में बोरी
गाल में आँगुरी गाड़ि कही, घर जाहु लली अब ह्वै गई होरी।।

यहाँ ढिठाई कृष्ण करते हैं— गली में घेरकर राधा को गुलाल तथा रंग से सराबोर कर देते हैं और चुहल भरी टिप्पणी करते हुए राधा को परामर्श देते हैं— *'घर जाहु लली अब ह्वै गई होरी'*। लला और लली का यह आदान-प्रदान ब्रजमंडल की होली का मूल है। कृष्ण और राधा की यह क्रीड़ा ब्रज ही नहीं सारे देश की होली की अंतर्वर्ती रसधारा है जो अपनी रसिकता में सबको समेट लेती है। तभी तो सुप्रतिष्ठित गीतकार शिवमंगल सिंह 'सुमन' लिखते हैं—

इसीलिए तो होली हँसती आज है,
इसी ठिठोली में फागुन की लाज है।
इसकी लाली में खिलता श्रृंगार है,
मलो अबीर, गुलाल तुम्हें अधिकार है।।

सुमन जी अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहते हैं—

आओ आज प्यार कर लें फिर प्यार को
इसी रंग में रँग दें सब संसार को।

इस फागुनी मौसम में यदि वर्षा की फुहारें पड़ने लगें तो सचमुच दो ऋतुओं का संगम वातावरण को नया रंग प्रदान कर देता है। 'सुमन' जी का ही एक गीत है—

आज कहाँ से फिर आ पहुँचा फागुन में सावन
सोंधी-सोंधी मिट्टी महकी, गमक उठा उपवन
बिजली कौंधी आसमान में, धरती में सिहरन
होली में कजली गाने को फिर ललचाया मन
आज कहाँ से फिर आ पहुँचा फागुन में सावन।

कवि सम्राट सनेही जी की नायिका की फागुनी-विरह-व्यथा का रंग ही अनोखा है। वह सभी ऋतुओं में प्रिय वियोग तो झेल आई परन्तु बसन्त और होली में यदि उसके प्रिय का आगमन न हुआ तो वह जीवित नहीं बचेगी। कितना हृदयस्पर्शी है यह छंद—

ग्रीषम बितायो जरि बिरह-जलाकनि मैं,
पावस मैं भीति-बस आँखिहू न खोली है।
सरद गरद दिल दाबि-दाबि राख्यो हाय,
धीरज हिमन्त मैं हिरान्यो, मति डोली है।।
सिसिर मैं राखी एक साँसै-साँस बाकी, अब
आयो है बसन्त फेरि कोयलिया बोली है।
ऐहैं जो न अजौं, पछतैहैं, मोहि पैहैं नाहिं,
ऐहैं कि न ऐहैं वे, 'सनेही' आजु होली है।।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मँजीरे की खनक, ढोलक की गमक, रंगों की महक, झाँझ की झमक, होरिहारों की बहक तथा युवाटोली की चहक के साथ फागुनी हवा की मस्ती वातावरण में नवजीवन का संचार कर देती है। वसन्त के उल्लास का पूर्ण विकास होली में परिलक्षित होता है। यह उल्लास क्षुद्र वैर-भाव, विद्वेष तथा सामाजिक दुर्गुणों को मिटाकर आपसी प्रेम एवं सद्भाव को विकसित करे— इस उम्मीद के साथ कवि शिवगोपाल मिश्र की निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से सभी को होली की शुभकामनाएँ—

सजी रहे मस्तक पर मंगलदायिनि कुंकुम रोली,
करो ठिठोली हमजोली में लो गुलाल की झोली।
जीतो सत्य-स्नेह से जग को संबल हो मृदु बोली,
शत वसंत तक मने आपकी रस-रंजित शुभ-होली।। ●

प्रगति, प्रेम और प्रवाह के प्रभावी कवि : सुमन

हिन्दी कविता के उत्तर-छायावादी काल की प्रगतिशील चेतना सम्पन्न रचनाओं एवं प्रेमपरक कविताओं के प्रभावशाली प्रस्तोता रहे हैं शिवमंगल सिंह 'सुमन'। छायावादी रुझान की कविताओं से आरम्भ कर उन्होंने एक तरफ प्रेम की प्रगाढ़ता, अंतरंगता और तन्मयता के मोहक गीतों की रचना की तो दूसरी ओर उनकी प्रगतिवादी चेतना-भूमि ने समाज के वंचित-पीड़ित वर्ग के प्रति आत्मीयता स्थापित करनेवाली रचनाओं का सृजन कराया। बहुआयामी प्रतिभा-संपन्न सुमनजी अध्यापन कौशल, प्रशासकीय दक्षता तथा मृदु-व्यवहार के कारण अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। कवि सम्मेलन का मंच हो या साहित्यिक-सांस्कृतिक समारोह— उनकी मधुवर्षिणी धाराप्रवाह वाणी सबको मुग्ध कर लेती थी। स्मृति-कोष में संचित इतिहास, दर्शन, अध्यात्म तथा साहित्य के ढेरों उद्धरण उनकी देह-भाषा (Body-Language) से समन्वित होकर श्रोताओं पर जादुई प्रभाव छोड़ते थे। इस दृष्टि से वे सही अर्थों में सम्मोहक वक्ता रहे हैं।

नागपंचमी के दिन ५ अगस्त १९१५ को उन्नाव (उत्तर प्रदेश) जिलान्तर्गत झगरपुर ग्राम के एक निम्नमध्यवर्गीय किसान परिवार में शिवमंगल सिंह 'सुमन' का जन्म हुआ था। उत्तर प्रदेश का यह क्षेत्र बैसवाड़ा नाम से प्रख्यात है और इसे प्रताप नारायण मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, निराला, सनेही, हितैषी, राम विलास शर्मा, नन्द दुलारे वाजपेयी, बलदेव प्रसाद मिश्र, रमई काका, भगवती चरण वर्मा आदि अनेक साहित्यकारों की मूल पैतृक भूमि होने का गौरव प्राप्त है। इस गौरवशाली साहित्य परम्परा को सुमनजी के रचनात्मक अवदान से नई समृद्धि प्राप्त हुई। सुमनजी का जन्म जिस परिहारवंशीय क्षत्रिय परिवार में हुआ था उस कुल की सैन्य सम्बद्धता सुविदित थी। प्रपितामह ठाकुर चंद्रिका बक्श सिंह अंग्रेजों की फौज में सिपहसालार थे। १८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य समर में लखनऊ के बेलीगारद में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ते हुए उन्होंने अपने प्राणोत्सर्ग किए थे। पितामह ठाकुर बलराज सिंह ने रीवा स्टेट में एक सैनिक के रूप में कार्यारम्भ किया था और अपनी योग्यता के बल पर वे कर्नल के पद तक उन्नत हुए थे। उनके पिता साहब बक्श सिंह रीवा की फौज में जनरल हुए तथा चाचा रीवा नरेश के ए डी सी के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हुए।

सुमनजी की प्रारंभिक शिक्षा रीवा में हुई। तत्पश्चात् वे ग्वालियर चले गए जहाँ उन्होंने इंटरमीडिएट एवं विश्वविद्यालय की शिक्षा हासिल की। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम. ए.तथा डी. लिट्. कर वे विक्टोरिया कॉलेज ग्वालियर में १९४२ ई. में व्याख्याता नियुक्त हुए। माधव महाविद्यालय उज्जैन तथा होल्कर कॉलेज इन्दौर में उन्होंने हिन्दी प्राध्यापक के रूप में अपार प्रतिष्ठा अर्जित की। माधव महाविद्यालय के प्राचार्य तथा विक्रम विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में उन्होंने अपनी प्रशासनिक दक्षता प्रमाणित की। सुमनजी को भारत सरकार की ओर से नेपाल राजदूतावास में सांस्कृतिक सहचारी (कल्चरल अटैची) बनाया गया। १९८२ से १९८५ तक वे उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ के उपाध्यक्ष भी थे। २७ नवम्बर २००२ को महाकाल की नगरी उज्जैन में उनका देहावसान हुआ।

वे अपने जीवन में अनेक पुरस्कारों एवं सम्मानों से अलंकृत हुए। पद्मश्री, साहित्य अकादमी, सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार, उ० प्र० हिन्दी संस्थान विशिष्ट सम्मान, पद्मभूषण उनमें प्रमुख हैं।

उनके प्राध्यापक, प्रशासक, चिन्तक, वक्ता और साहित्य-सर्जक के विविध-आयामी व्यक्तित्व ने समाज में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई थी, परन्तु सुमनजी का व्यक्तित्व-कृतित्व कवि-केन्द्रित ही रहा है। उनकी प्रकाशित काव्य-कृतियाँ हैं—हिल्लोल (१९३९), जीवन के गान (१९४२), विश्वास बढ़ता ही गया (१९४५), युग का मोल (१९४८), प्रलय सृजन (१९५०), पर आँखें नहीं भरीं (१९५५), विन्ध्य हिमालय (१९६०), मिट्टी की बारात (१९७२), वाणी की व्यथा (१९८०) तथा कटे अँगूठों की बंदनवारें (१९९१)। प्रकृतिपुरुष कालिदास (नाटक) के अतिरिक्त सुमनजी ने निबन्ध, संस्मरण, आलोचना की भी सर्जना की है। विविध विषयों पर उनके प्रेरक व्याख्यानों की संख्या भी कम नहीं है। 'महादेवी की काव्य साधना' पर उनका शोध प्रशंसित एवं चर्चित हुआ है।

सुमन के वाह्य व्यक्तित्व की आभा और भंगिमा, उनका संवेदनशील मन तथा असंख्य कविताएँ उन्हें प्रवृत्ति एवं प्रकृति—दोनों से कवि ही सिद्ध करती हैं। वे मूलतः कवि ही रहे हैं, प्रशासक, अध्यापक, सुवक्ता बाद में। उनकी बहुरंगी कविताएँ चिन्तन-वैविध्य को सूचित करती हैं। माधुर्य, रागात्मकता, स्वच्छन्दता, विद्रोह, समाजोन्मुखता, सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, प्रेम की प्रगाढ़ता, रूमानी वृत्ति, प्रखर राष्ट्रीयता, संस्कारों के प्रति निष्ठा तथा आस्थावादी स्वर उनकी रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। वैशिष्ट्य यह कि इन विषयों के विवेचन - विश्लेषण में सुमनजी की कविताएँ कहीं जटिल या बोझिल

भाषा से आबद्ध नहीं होती, अपनी सरल-सहज भाषा में प्रतिपाद्य का सम्यक् विश्लेषण कर अपनी प्रभविष्णुता एवं प्रवाहमयता प्रमाणित करती हैं। वे कहते भी हैं—

मैं शिप्रा सा ही तरल-सरल बहता हूँ,
मैं कालिदास की शेष - कथा कहता हूँ।
मुझको न मौत भी भय दिखला सकती है,
मैं महाकाल की नगरी में रहता हूँ।।

अपने प्रथम काव्य-संग्रह 'हिल्लोल' की पहली कविता में उन्होंने कविपरक दीवानगी और फक्कड़ाना अंदाज़ में अपना परिचय दिया है। यह रचना बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की पंक्तियाँ "हम दीवानों की क्या हस्ती, हैं आज यहाँ कल वहाँ चले/ मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले" की स्मृति कराते हुए भी अपनी अलग भंगिमा की प्रतीति कराती है :

हम दीवानों का क्या परिचय? कुछ चाह लिए, कुछ चाव लिए।
कुछ कसकन और कराह लिए, कुछ दर्द लिए, कुछ दाह लिए।।
हम नौसिखिए नूतन पथ पर, चल दिए प्रणय का कर विनिमय।
हम दीवानों का क्या परिचय।।

डॉ० सुमन ने स्वीकार किया है कि जब उन्होंने काव्य-सृजन आरम्भ किया तो उनके 'मानस की रागात्मकता ने तत्कालीन छायावादी प्रवृत्ति से सहज ही एकरूपता स्थापित कर ली।' अपने प्रथम काव्य-संग्रह 'हिल्लोल' की रचनाओं के बारे में वे स्वयं कहते हैं, " 'हिल्लोल' में मेरे उत्तम मन की राग भावना, उत्कंठा और व्यग्रता प्रगट हुई है। ....(इसमें) जीवन और जगत् के प्रति तीव्रतम जिज्ञासा, विस्मय, राग और सम्भ्रम के भाव हैं। ...'हिल्लोल' के कवि के रूप में मैं छायावाद की वायवीयता, रहस्यावरण और एक खास किस्म की फंतासी से भिन्न चल रही यथार्थवादी रूमानी प्रवृत्ति से सम्बद्ध था।" (प्रभाकर श्रोत्रिय/शिवमंगल सिंह 'सुमन' : मनुष्य और स्रष्टा/वक्तव्य के घेराव में)

कविता के माध्यम से अपने अंत:करण की व्यथा को व्यक्त करने में कवि को आन्तरिक सुख की अनुभूति होती है। वह कहता है—

मेरे उर में जो निहित व्यथा / कविता तो उसकी एक कथा
छन्दों में रो-गाकर ही मैं / क्षण भर को कुछ सुख पा जाता
मैं सूने में मन बहलाता।

परन्तु कवि की यह वेदना व्यक्तिगत नहीं है, उसमें व्यापक समाज की पीड़ी भी अनुस्यूत है। वह कह उठता है, *'मेरे गायन-रोदन में जग, निज सुख-दुख की छाया*

पाता'। इसी संग्रह की 'संघर्ष-प्रणय' कविता में वह अतीत के प्रेम का स्मरण तो करता है परन्तु उसमें डूबता नहीं है, उससे उबरकर *'विस्तृत पथ है मेरे आगे उस पर ही मुझको चलना है'* का उद्घोष करता है। यह पथ है वंचितों -शोषितों-असहायों के पक्ष में खड़े होकर उनपर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाने का। काँटों भरे इस रास्ते में संघर्ष ही संघर्ष है अतः प्यार का नाज उठाना छोड़कर वह 'दीन जनों की अश्रुधार' पोछने का निश्चय करता है। कवि इस अभियान में अपनी प्रिया का भी सहयोग चाहता है—

विस्तृत पथ है मेरे आगे उस पर ही मुझको चलना है,
चिर-शोषित असहायों के सँग अत्याचारों को दलना है।
साहस हो तो आओ तुम भी मेरा साथ निभा दो थोड़ा,
अगर नहीं तो अब तो मैंने उस जीवन से ही मुख मोड़ा।

परवर्ती काव्य-कृति 'जीवन के गान' में विषय वैविध्य के बावजूद प्रगतिशील विचारधारा प्रमुख रूप से मुखरित हुई है। 'भूमिका' में कवि ने कहा है कि 'जहाँ ज्वलन्त संघर्ष जीवन्त अनुभूतियों का अंग बनकर मार्मिक संवेदनशीलता से सिक्त हो सका है वहाँ वह अपनी अनगढ़ता में भी ऊर्ज्वसित हो उठा है।' इस संग्रह की कविताओं को कवि ने अपनी भटकन और पथ की खोज व्यक्त करनेवाला कहा है। इसमें कवि की 'रूमानी प्रवृत्ति राष्ट्रीय भावना से गुँथ गई है'। सुमन के युवामन पर पहले गाँधी का प्रभाव, फिर सशस्त्र क्रान्ति की लपटों का आकर्षण तत्पश्चात् मार्क्सवादी चिन्तन का नैकट्य— यानी वैचारिक विश्लेषण के इस कालखण्ड में कवि ने प्रगतिवादी चेतना को सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय मानकर मार्क्स के साम्यवादी मार्ग को स्वीकार किया।

'जीवन का गान' संग्रह में एक ओर जीवन के वंदन और क्रन्दन का गायन है तो दूसरी ओर 'मानव-मानव में समता का व्यवहार न होने की पीड़ा और ऊँच-नीच के सब आडम्बरों को भस्म कर देने का आक्रोश' भी। संग्रह की 'वरदान माँगूँगा नहीं' रचना कवि के स्वाभिमान को रेखांकित करती है। इसके साथ ही यह कविता मानव-मन को जय-पराजय की भावना से ऊपर उठकर सतत कर्मरत रहने की प्रेरणा भी देती है—

क्या हार में क्या जीत में / किंचित नहीं भयभीत मैं
संघर्ष पथ पर जो मिले / यह भी सही, वह भी सही। / वरदान माँगूँगा नहीं।

गीत की आरंभिक पंक्तियाँ हैं—

यह हार एक विराम है / जीवन महा संग्राम है
तिल-तिल मिटूँगा पर दया की भीख मैं लूँगा नहीं। / वरदान माँगूँगा नहीं।

वसन्त के आगमन का उल्लास एवं सुखानुभव कवि के लिए तबतक अधूरा है जबतक समस्त मानव जाति पीड़ित है, परवश है, नानाप्रकार के बंधनों में जकड़ी है। 'तब समझूँगा आया वसन्त' कविता में कवि ने इन भावों को यों प्रगट किया है—

युग-युग से पीड़ित मानवता / सुख की साँसें भरती होगी
जब अपने होंगे वन-उपवन / जब अपनी यह धरती होगी
तब समझूँगा आया वसन्त।

इस कालखंड की रचनाओं में कवि मजदूरों-किसानों का हमदर्द बनकर उनसे आगे बढ़ने का आह्वान करता है तथा शोषकों पर कठोर प्रहार करता है। कवि कंकाल-स्वरूप मानव को देखकर दुःख से द्रवित होता है, उसे क्रान्ति की आवाज़ सुनाई देती है। 'गुनिया का यौवन' शीर्षक लंबी कविता में सुमनजी ने मार्मिकता के साथ उन प्रसंगों का उल्लेख किया है जिनके कारण हजारों युवतियाँ असमय जर्जर हो जाती हैं। संग्रह का अत्यंत चर्चित गीत है *'जिस-जिससे पथ पर स्नेह मिला / उस-उस राही को धन्यवाद'*। रचना का प्रभावी अंश है—

साँसों पर अवलम्बित काया, जब चलते-चलते चूर हुई,
दो स्नेह शब्द मिल गए, मिली नव-स्फूर्ति थकावट दूर हुई।
पथ के पहचाने छूट गए, पर साथ-साथ चल रही याद,
जिस-जिससे पथ पर स्नेह मिला, उस-उस राही कौ धन्यवाद।

इस संग्रह की अनेक रचनाएँ कवि की साम्यवादी विचारधारा को पुष्ट करती हैं। 'मास्को अब भी दूर हैं, 'सोवियत रूस के प्रति', 'स्तालिनग्रेद', 'चढ़ी जा रही है बढ़ी लाल सेना' कविताएँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रगतिवादी चेतना पर भरोसे की दृढ़ता का द्योतन कराती है काव्य-कृति 'विश्वास बढ़ता ही गया'। कृति की प्रथम रचना की कुछ पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं—

चाहता तो था कि रुक लूँ पार्श्व में क्षण भर तुम्हारे
किन्तु अगणित स्वर बुलाते हैं मुझे बाँहें पसारे
अनुसुनी करना उन्हें, भारी प्रवंचन का-पुरुषता
मुँह दिखाने योग्य रक्खेगी न मुझको स्वार्थपरता
इसलिए ही आज युग की देहली को लाँघकर मैं–
पथ नया अपना रहा हूँ, पर तुम्हें भूला नहीं हूँ।

कवि का यह उद्घोष प्रमाणित करता है कि वह प्रेम के पंथ से विरत होकर प्रगति पथ का पथिक भले ही बन गया हो परन्तु प्रेम की मधुरिमा और अंतरंगता के

मोहक क्षणों को विस्मृत नहीं कर पाया है। वृहत्तर समाज के मंगल और लोक-कल्याण की प्रेरणा से वह मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि से सम्बद्ध होता है इस विश्वास के साथ कि इसके मूल में 'जनहित' है 'वाद की जड़ता' नहीं। 'वक्तव्य के घेराव में' शीर्षक के अन्तर्गत कवि कहता है— "मैंने मार्क्सीय दर्शन को अपने देश और काल के परिप्रेक्ष्य में, राष्ट्र-कल्याण के सन्दर्भों में समझा है। एक आत्मनिर्भर, सुखी, सार्वभौम राष्ट्र के रूप में भारत की कल्पना के लिए मुझे मानवीय संवेदना का यह क्रियात्मक वैज्ञानिक और विवेक-सम्मत दर्शन उपयुक्त प्रतीत हुआ।" शिव मंगल सिंह 'सुमन' : मनुष्य और स्रष्टा

इसी 'वक्तव्य' में कवि ने स्पष्ट कहा है— "प्रलय सृजन' काल में मुझपर वाह्य परिवेश का प्रभाव अधिक है, अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति कम; परन्तु 'विश्वास बढ़ता ही गया' मेरी प्रगतिशील आस्थाओं की स्थिरता का काल है। स्थिरता में विस्तार और गहराई दोनों आ जाती है। 'विश्वास बढ़ता ही गया' में मेरी चिन्ता एक ओर विश्वाभिमुख हो गई है और दूसरी ओर राष्ट्रीय चिन्ता भी वृहत्तर सांस्कृतिक परिवेश, सामाजिक संदर्भ और मार्क्सीय दर्शन से समन्वित हो गई है।" क्रांति के विध्वंसकारी रूप को सर्जनात्मक आयाम में रूपान्तरित कर देना 'सुमन' की अपनी विशेषता है। नवीन भारत के निर्माण की परिकल्पना के साथ कवि कहता है—

जब हाथ बिठालोगे सौ-सौ साँचों में
कंचन पिघलेगा जब सौ-सौ आँचों में
तब एक रेख का कहीं भराव भरेगा
तब एक रूप का आकर्षण निखरेगा

साम्यवादी नेता रुस्तम सैटिन एवं जनकवि 'शील' के नैकट्य ने सुमन की प्रगतिशील जीवन-दृष्टि को सुदृढ़ किया। परन्तु कट्टर वामपंथियों की भाँति वे साम्यवादी विचारधारा से बँधे नहीं रहे। कहा जा सकता है कि साम्यवादी जीवन दर्शन को भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन के साथ युक्त कर उन्होंने मानवता के प्रबल पक्षधर के रूप में प्रतिष्ठा अर्जित की। उनकी संवेदनशीलता इन पंक्तियों में ध्वनित हुई है—

आज शोषक-शोषितों में हो गया जन का विभाजन,
अस्थियों की नींव पर अकड़ा खड़ा प्रासाद का तन।
धातु के कुछ ठीकरों पर मानवी-संज्ञा-विसर्जन,
मोल कंकड़-पत्थरों के बिक रहा है मनुज जीवन।।
बिलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिसने न फेरी,
यदि क्षमा कर दूँ उन्हें, धिक्कार माँ की कोख मेरी।

चाहता हूँ ध्वंस कर देना विषमता की कहानी,
हो सुलभ सबको जगत में वस्त्र, भोजन, अन्न, पानी।।

(विश्वास बढ़ता ही गया / सुमन समग्र, खंड-१ पृष्ठ २१८-२१९)

समाज के 'नव भवन निर्माण हित' वह रूढ़ियों एवं विषमताओं के जर्जर प्राचीन गढ़ को ढहाना चाहता है। तमाम विसंगतियों के बावजूद वह 'मनुष्य के भविष्य से निराश' नहीं है। 'मेरा देश जल रहा कोई नहीं बुझानेवाला' कविता में कवि ने देश में जाति, धर्म तथा आपसी भेद-भाव के नाम पर चल रहे दंगा-फसादों पर चिन्ता प्रकट की है। वह देश को स्वाभिमान-सम्पन्न देखना चाहता है तभी तो उसने एक तरफ क्रांतिकारियों-बलिदानियों का स्मरण किया है तो दूसरी तरफ पूर्वजों की कीर्ति का बखान किया है। कवि सहज भाव से स्वीकार करता है कि प्रेयसी के आकर्षण से वह काव्य-सृजन में प्रवृत्त हुआ—

इतना याद कि दो नयनों को देख हो उठा था मन उन्मन
अनायास ही एक दिवस सूने में हृदय कर उठा गुन-गुन

प्रिया का वियोग उसे सदा प्रोत्साहित करता है रचना-कर्म हेतु, अतः वह आजन्म उसका ऋणी है—

हाय अभाव तुम्हारा मुझको देता रहा सदा प्रोत्साहन
इन गीतों के लिए तुम्हारा ऋणी रहूँगा मैं आजीवन

इस रचना में भी वह अपनी मानवतावादी दृष्टि को वाणी देना नहीं भूलता— *'भवन बनानेवालों का अपना कोई घर-बार नहीं था'* ; *'अन्न उगानेवालों के बेटे दानों को तरस रहे थे'* ; *'मेरे युग में हाय, मिट गई नर-पशु के अन्तर की रेखा'* जैसी पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। प्रगति के इस नये पथ का अवलंबन ग्रहण करते हुए भी वह प्रिय को विस्मृत नहीं करता, यह कवि की ईमानदारी है— *'पथ नया अपना रहा हूँ, पर तुम्हें भूला नहीं हूँ'।*

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय ने ठीक ही लिखा है— "विश्वास बढ़ता ही गया' के कवि ने केवल तोड़ा ही नहीं–बनाया भी है। स्थापना की है—नकार की भूमि पर नवनिर्माण किया है। इसके बाद पुनः वह प्रेम की ऐकांतिक भूमि पर नए और प्रौढ़ स्वर के साथ आरोहण करता है।" (सुमन समग्र-२/प्रभाकर श्रोत्रिय, पृष्ठ : २४)

'पर आँखें नहीं भरीं' तक आकर प्रिया की वह स्मृति मानो फिर नवीन रूप और आकार ग्रहण कर कवि के मन-मस्तिष्क पर छा जाती है। साम्यवादी चेतना से हटकर कवि उस भावधारा को पुनः पकड़ता है जिस धारा को उसने 'हिल्लोल' में

प्रवाहित किया था। कवि ने स्वीकार भी किया है, "इसमें प्रेम और सौन्दर्य विषयक कविताओं का प्राधान्य है। जो धारा मैं 'हिल्लोल' में छोड़ आया था, उसका अन्तःसलिला रूप पुनः सतह पर आ गया। इसके बाद मैं कभी भी इस प्रवृत्ति के प्रति पूर्णतः समर्जित न हो सका। इसलिए 'पर आँखें नहीं भरीं' मेरी प्रणय-व्यंजना की बेलौस उपलब्धि है।"

सुमनजी मानते हैं कि यद्यपि सामाजिक विषमता बढ़ रही थी और समस्याएँ समाप्त नहीं हुई थीं, फिर भी "भारतवर्ष में नव स्वतंत्रता का विहान एक विशिष्ट आनन्द और उल्लास का आह्लाद लेकर आया था। इसलिए मेरा कवि एक क्षण के लिए स्वप्नों को ही सत्य मान बैठा था। अतः क्रांति भावना के कारण रुकी-दबी मूल प्रेम-सौन्दर्य की आन्तरिक गूँज कविता की बाँसुरी से फूट पड़ने को विह्वल हो उठी थी।"

'पर आँखें नहीं भरी' के गीत कवि की इस उक्ति का समर्थन करते हैं और प्रमाणित करते हैं कि रचनाकार ने श्रृंगार एवं प्रेम के महोदधि में आकण्ठ डूबकर अपने भावों को मुखर अभिव्यक्ति प्रदान की है। कवि की यह रूमानियत कई अविस्मरणीय प्रेम-गीतों का सृजन कराती है। एक गीत की हृदयस्पर्शी पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं—

सोचा था जिस दिन सूने में सहसा तुमको मैं पा लूँगा,
कितने उलाहने उगलूँगा सब सपने सत्य बना लूँगा।
लेकिन जब तुम मिल जाते हो तो कहने लगता और-और,
कहने की बातें और किन्तु मन की बातें कुछ और-और।

इस संग्रह के अन्य गीत, जो अत्यंत लोकप्रिय हुए, उनकी पंक्तियाँ हैं—

'कितनी बार तुम्हें देखा पर आँखें नहीं भरीं'

* * * * *

'क्षणभर की पहचान जगत् में जीने का सामान दे गई'

* * * * *

'ज़िन्दगी तो मिलगई चाही कि अनचाही
इस सफर में तुम कहाँ से मिल गए राही'

* * * * *

'तुम्हारे स्नेह की दो बूँद, जीने को बहुत काफी'

'पर आँखें नहीं भरीं' काव्य संग्रह की 'मिट्टी की महिमा' और 'कलाकार के प्रति' रचनाएँ प्रेम और श्रृंगार के प्रवाह से अलग भावाभिव्यक्ति के कारण लोकप्रिय हैं। 'मिट्टी की महिमा' की निम्नलिखित पंक्तियाँ अत्यंत अर्थगर्भ हैं—

मिट्टी की महिमा मिटने में, मिट-मिट हर बार सँवरती है,
मिट्टी मिट्टी पर मिटती है मिट्टी मिट्टी को रचती है।

कवि मिट जाता लेकिन उसका उच्छ्वास अमर हो जाता है,
मिट्टी गल जाती पर उसका विश्वास अमर हो जाता है।

सुमनजी की परवर्ती काव्यकृतियाँ रचनापरक नवीनता एवं वैविध्य का संकेत देती हैं। कवि ने 'विन्ध्य हिमालय' को 'मालव निवास और नेपाल प्रवास की संचित स्मृति राशि' कहा है तो 'मिट्टी की बारात' को 'भानुमती का पिटारा (जिसमें) तरह-तरह की शक्लें, किसिम-किसिम के करिश्मे' हैं। 'वाणी की व्यथा' में नई भंगिमा वाली रचनाएँ हैं। रचनाकार गीत और छन्दबद्धता का मोह त्यागकर निर्बन्ध रूप से बहता है। सामाजिक संदर्भों की मार्मिक रचनाओं वाली इस कृति की चर्चित रचना है 'विडंबना'। पंक्तियाँ हैं—

वैतरणी करोगे पार / दूसरों के कंधों पर
अंधों की जमात में / अपंगों का अभिनय ?
कटवा दो अपनी टाँगें / टाँग दो दरख्तों पर
नंगापन पतझर का / कुछ तो ढक जाएगा।

इसी प्रकार 'दो टूक' कविता की तीन पंक्तियाँ अत्यन्त प्रभावशाली हैं—

कुछ नया गढ़ा दो / मुझे तोड़कर / आकाश बना दो।

'कटे अँगूठों की बंदनवारें' झाबुआ और अलीराजपुर के आदिवासी इलाके के भीलों के अंगुष्ठविहीन लक्ष्यबेध पर केन्द्रित कविता है। इस संग्रह की अधिकांश रचनाएँ 'अकविता' के अंतर्गत परिगणित की जा सकती हैं। 'मिट्टी की बारात' की भूमिका में सुमन ने कहा भी है, "जहाँतक बना है मैंने अपनी जमीन नहीं छोड़ी है। पहले तो शौक चर्राया अकविता तक की यात्रा में पाँचवाँ सवार बनने का, पर फिर अपनी औकात में ही रहना अधिक समीचीन लगा।"

अधूरे स्वप्नों को साकार न कर पाने की पीड़ा कवि को सालती है। वह प्रश्न करता है, *'मैं प्रतीक्षारत रहूँ अब और कब तक?'* लंबी कविता का उत्तर भी अन्त में है, *'हो न जाए विश्व विश्वसनीय जबतक'*।

सुमनजी ने अपने समय और समाज के नायकों के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किए हैं। उन्होंने लगभग दो दर्जन कविताएँ साहित्यिक विभूतियों एवं राष्ट्र-निर्माताओं के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए लिखी हैं। छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद, राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त, कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर, कथाकार प्रेमचन्द, महाकवि निराला, कविकुलगुरु कालिदास, राष्ट्रकवि दिनकर, कविवर सुमित्रानन्दन पंत आदि शीर्षस्थ साहित्यकारों के प्रति उनकी भावाभिव्यक्तियाँ बेजोड़ हैं। निरालाजी के साथ सुमनजी की आत्मीयता सुविदित रही है। 'महाप्राण के महाप्रयाण पर' तथा 'युगांतरकारी

कवि निराला के प्रति' कविताओं में महाप्राण निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रभावी वर्णन सुमनजी की अंतरंगता में घुलकर अविस्मरणीय हो गया है। 'महाप्राण के महाप्रयाण पर' रचना की आरंभिक चार पंक्तियाँ निराला-प्रेमियों का कंठहार हैं—

तुम जीवित थे तो सुनने को जी करता था,
तुम चले गए तो गुनने को जी करता है।
तुम सिमटे थे तो सहमी-सहमी साँसें थीं,
तुम बिखर गए तो चुनने को जी करता है।

महात्मा गाँधी से संबद्ध ७ कविताएँ विश्ववंद्य बापू के प्रति कवि की अपार भक्ति-भावना प्रमाणित करती हैं। पं० जवाहर लाल नेहरू और महामना पं० मदन मोहन मालवीय के सम्मान में भी सुमनजी ने कविताएँ लिखी हैं। सुमनजी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य होने का गौरव प्राप्त रहा है। महादेवी वर्मा के साहित्य से संबद्ध प्रथम शोधपरक कृति के रचनाकार डॉ० सुमन ही थे।

गति और प्रवाह का सदैव समर्थक रहा है सुमन का कवि-मन। 'हिल्लोल' में अपनी अविराम यात्रा का संकल्प प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है—

'गति प्रबल पैरों में भरी, फिर क्यों रहूँ दर-दर खड़ा
जब आज मेरे सामने, है रास्ता इतना पड़ा
जबतक न मंजिल पा सकूँ, तबतक न मुझे विराम है।
चलना हमारा काम है।'

नदी की धारा की भाँति अनवरत बहते रहना, चलते रहना, सुमन-काव्य की अन्तर्वर्ती चेतना है जो उनकी कविताओं में यत्र-तत्र-सर्वत्र परिलक्षित होती है। उनके विविध काव्य-संग्रहों की अनेक पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में उद्धृत की जा सकती हैं। प्रस्तुत हैं कुछ उद्धरण—

'जीवन बहता ही जाता है' (सुमन समग्र, खंड १/पृष्ठ २२५-२२६)
'बूँद-बूँद को जोड़ शिलाएँ तोड़, अबाध बहो' (समग्र, खंड १/पृष्ठ २७२)
'हम चले, चल पड़े क्योंकि हमें चलनेवालों का संग मिला' (समग्र, खंड १/पृष्ठ ३२)
'गति मिली मैं चल पड़ा पथ पर कहीं रुकना मना था' (खंड १, पृष्ठ-३०३)

'विस्तृत पथ है मेरे आगे उस पर ही मेरा चलना है' तथा *'चल रहा हूँ क्योंकि चलने से थकावट दूर होती'* पंक्तियों के साथ कवि का पाठकों से भी आह्वान है—

तुम पथ पर अपने गीत रचो गाओ थक कर
औरों की गाथा नाहक मत दुहराओ
मेरे गीतों को चलते-चलते गाओ। (पर आँखें नहीं भरी)

सुमनजी की मान्यता है कि कोई शक्ति अंतःकरण में है जो अनवरत छंद-सृजन कराती रहती है, लेखनी को सक्रिय रखती है। *'कटे अंगूठों की वंदनवारें'* संग्रह की एक कविता की पंक्ति है– *कोई भीतर बंद / लिखाता छंद / कलम ने चलना सीखा।*

'वक्तव्य के घेराव में' शीर्षक अपनी भावाभिव्यक्ति में डॉ० सुमन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "मैं प्रगति और प्रवाह के प्रति प्रतिबद्ध हूँ। किसी विशेष चिन्तन-धारा या वाद से न तो अपने को जोड़ता हूँ, न जोड़ना चाहता हूँ। यदि प्रवृत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो मैं मूलतः रोमेंटिक हूँ—अपने सम्पूर्ण विद्रोही, स्वतन्त्र और रागात्मक अर्थों में। आगे चलकर मुझे प्रगतिवादी धारा का कवि कहा गया। वस्तुतः मैंने सशस्त्र क्रांति की राष्ट्रीयता के द्वार से प्रगतिवाद में प्रवेश पाया; फिर भी उसके वाद में मैं बँध नहीं पाया—या मुझे वह बाँध नहीं पाया। इसलिए जैसे-जैसे परिवेश बदलते गए, मैं सहज भाव से अपनी बात कहता गया।" (सुमन समग्र : खंड-२/पृष्ठ ५)

छायावादी स्वच्छंदता, उत्तरछायावादी युग के प्रेम-गीतों की उन्मुक्तता, सामाजिक प्रतिबद्धता, राष्ट्र के गौरव एवं भारतमाता के प्रति श्रद्धा तथा अन्याय-अनाचार के प्रति तीव्र आक्रोश सुमनजी के काव्य-व्यक्तित्व की पहचान के प्रमुख बिन्दु हैं। अभिव्यक्ति की सहजता, संप्रेषणीयता, प्रभविष्णुता तथा ओजस्विता उनकी कविताओं के प्राण तत्त्व हैं। 'प्रलय सृजन' के 'प्राक्कथन' में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही लिखा है— "कविकर्म के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है, 'सुमन' के पास वे प्रचुर परिमाण में मौजूद हैं। उनके पास व्यापक और स्पष्ट कल्पना है। .....उनकी भाषा में क्लिष्टता और कृत्रिमता नहीं है, कवि उन्हीं शब्दों का प्रयोग करता है जो उसके अस्तित्व के अभिन्न अंग बन गए हैं। भाषा की तरह छन्द पर भी 'सुमन' का असाधारण अधिकार है।" शिवमंगल सिंह 'सुमन' की पंक्तियाँ हैं—

कवि की अपनी सीमाएँ हैं, कहता जितना कह पाता है।
कितना भी कह डाले लेकिन, अनकहा अधिक रह जाता है।।

सीमाएँ केवल कवि की ही नहीं होतीं, कवि की रचनाओं का विश्लेषण करनेवाले की भी होती हैं—यह स्वीकार करते हुए अंततः कह सकते हैं कि कविवर सुमन को न तो प्रगतिवादी कहकर उसकी सीमित परिधि में बाँधा जा सकता है और न ही रूमानी कवि घोषित कर उस दायरे में संकुचित किया जा सकता है। सचाई तो यह है कि वे इन दोनों भावधाराओं के समर्थ रचनाकार होते हुए भी व्यापक संवेदना एवं अभिव्यक्तिवाले ऐसे उत्सवधर्मी कवि के रूप में समादृत रहे हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व-कृतित्व से हिन्दी कविता एवं काव्य-मंच दोनों को अपार प्रतिष्ठा प्रदान की। ●

कविता का भविष्य

जिस देश में कविता को आरंभ से ही अपार सम्मान प्राप्त हो, जहाँ 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू' और 'असारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः' जैसे कथनों से कवि को मर्यादा प्रदान की गई हो— वहाँ कविता के भविष्य को लेकर चिन्तित होना अपने में विडम्बनीय लग सकता है। परन्तु बदलते परिवेश में इस प्रकार का चिन्तन-विवेचन-विश्लेषण-मंथन न केवल आवश्यक उपक्रम है बल्कि हमारी जागरूकता का द्योतक भी है।

आज के इस उत्तर-आधुनिक परिवेश में; भूमंडलीकरण, उदारीकरण और सूचना क्रांति के इस युग में यह सवाल सामयिक है कि मनुष्य को कविता की आवश्यकता है क्या? इस आपाधापी भरे जीवन में विज्ञान की त्वरित विकास-यात्रा और अर्थ-संग्रह की अपार लालसा में शामिल व्यक्ति के जीवन में साहित्य या कविता की अनिवार्यता कितनी है, यह वास्तव में विचारणीय है।

इस संबंध में ब्रिटेन की संसद में वर्षों पूर्व हुई उस बहस का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ इस बात पर चिन्ता प्रकट की गई थी कि बावजूद आर्थिक विकास और वैज्ञानिक उन्नति के जीवन में हाय-हाय क्यों मची हुई है? सुविधा और साधन की अपार वृद्धि के बाद भी आखिर समाज दुखी क्यों है? विषय पर बोलते हुए इंगलैण्ड के एक माननीय सांसद ने कहा था कि हमें इस कविता की एक पंक्ति बदलनी होगी—

What is this life is full of care
We have no time to stand and stare.

वक्ता ने प्रस्ताव किया था कि पंक्ति को इस रूप में रखना होगा—

We must have time to stand and stare.

इस प्रसंग में याद आ रही हैं रॉबर्ट फ्रॉस्ट की चर्चित काव्य-पंक्तियाँ—

The woods are lovely dark and deep
but I have promises to keep.
And miles to go before I sleep,
and miles to go before I sleep.

बच्चन का भावानुवाद है—

गहन सघन मनमोहक वनतरु मुझको आज बुलाते हैं
किन्तु किए जो वादे मैंने याद मुझे आ जाते हैं।
अभी कहाँ आराम बदा, यह मूक निमंत्रण छलना है,
अरे अभी तो मीलों मुझको, मीलों मुझको चलना है।

मन मोहक प्रकृति को छोड़कर जीवन में अनवरत भागते रहने से कुंठा, निराशा और अशांति में अभिवृद्धि हो रही है— यह बात औद्योगिक क्रान्ति वाले उस देश के सांसद ने तब डंके की चोट पर कही थी। आज यही स्थिति भारत में भी निर्मित हो गई है। याद आ रहा है आचार्य रामचंद्र शुक्ल का वह कथन, जिसमें उन्होंने कहा था— "ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायेंगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायेगी दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायेगा।" (कविता क्या है)

कैसा है आज का परिवेश? गीतकार भारतभूषण के शब्दों में—

हर ओर कलि के चरण / मन स्मरण कर अशरण-शरण।
प्रत्येक क्षण विष दंश है / हर दिवस अधिक नृशंस है
व्याकुल परम मनुवंश है / आतंकमय वातावरण
मन स्मरण कर अशरण शरण।

माहौल का अधिक स्पष्ट और मार्मिक चित्रण किया है स्वप्निल श्रीवास्तव ने-

आनेवाले दिन बहुत कठिन होंगे
इतने कठिन कि बाज़ार अथवा दफ्तर से घर पहुँचना होगा मुश्किल
बीच रास्ते में अपहृत होने की संभावनाएँ बढ़ेंगी।
हत्या को उद्योग, झूठ को राजधर्म घोषित कर दिया जायेगा।
सच बोलना वर्जित कर दिया जायेगा।
आदमी का मारा जाना बहुत आम हो जायेगा
मौत की खबरें आदमी ऐसे पढ़ेगा, जैसे पढ़ रहा हो अखबार।
आनेवाले दिन बहुत कठिन होंगे
इतने कठिन कि जिसे हम वर्षों से अपना दोस्त समझते हैं
वह भी हमारी हत्या की योजना में शामिल हो जायेगा।

ऐसे दमघोंटू भयानक माहौल में; ध्वस्त होते नैतिक मूल्यों और बाज़ारवादी संस्कृति के अराजक वातावरण में— कविता ही हमें बचाने का सार्थक उपक्रम कर सकती है। जुगमंदिर तायल की पंक्तियाँ हैं—

जब घर और बाज़ार के बीच पहचान मुश्किल हो जायेगी
जब स्त्री और मॉडल के बीच फर्क धुँधला हो जायेगा
जब सड़कों पर आदमी कम, दौड़ के घोड़े ज्यादा नज़र आयेंगे
हम कविता के पास जायेंगे।

जब धर्म इतना हिंसक हो जायेगा, कि अहिंसा पाप लगने लगे
जब आस्था इतनी आक्रामक हो जायेगी, कि अनास्था राहत देने लगे
जब खुलापन इतना खुल जायेगा कि कहने को शब्द नहीं रहे
कविता की श्यामल छाया, तब हमारी रक्षा करेगी।

कविता के प्रति यह भरोसा यों ही नहीं है। कविता हमारी आन्तरिक आवश्यकता है। यह साहित्य की वह विधा है जो मनुष्य को मनुष्य की पहचान कराती है। इसलिए कविता की मौत की घोषणा करनेवालों को बार-बार निराश होना पड़ा है। कविता को जीवन का छंद स्वीकार करते हुए डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी ने कविता की मृत्यु की घोषणा करनेवालों को जवाब देते हुए कहा है—

कविता जीवन का छन्द है
आदमी के प्रति एक पावन अनुबन्ध है–
माटी की सोंधी गन्ध है।
कविता
हर उषा के साथ नित नए रूप में सँवरती है
कविता कभी नहीं मरती है।

कविता तबतक जीवित रहेगी जबतक मनुष्यता जीवित है। 'तुमुल कोलाहल कलह' में कविता ही 'हृदय की बात' है। पंक्तियाँ हैं शैल चतुर्वेदी की—

कविता वह कल्पना है / जो विचार को व्योम कर देती है
कविता वह दृष्टि है / जो सृष्टि को ओम कर देती है।
कविता शाकुन्तलम् है / कविता मंगलम् है
कविता सत्यम् है, शिवम् है, सुन्दरम् है।

डॉ० कुँअर बेचैन की 'कविता' शीर्षक रचना में कविता के बारे में महत्त्वपूर्ण मंतव्य हैं। कवि का परामर्श है कि कविता जब ऐसी सँकरी गली हो जाय कि उसमें टहलना कठिन हो तब उसे बंद कर देना चाहिए। क्योंकि—

कविता / दम नहीं घोटती
वरन् वह देती है स्वच्छ प्राणवायु
उन सभी को / जिनकी साँस फूलने लगी है।

कवि की नज़र में कविता में प्रयुक्त भाव-विचार *'शब्दों की लालटेन लेकर/*

इसलिए खड़े रहते हैं / कि कोई अँधेरे में न रह जाए।' कवि मानता है कि कविता का उद्देश्य नया रास्ता खोलना, नई रोशनी थिरकाना और नया गीत उगाना है।

डॉ० बेचैन यदि शब्दों को लालटेन बनाने के आग्रही हैं तो कवि दिनेश शुक्ल शब्द को 'अस्त्र' बनाने के पक्षधर हैं। उनका एक दोहा है—

अस्त्र बनाओ शब्द को, धरो आग की धार।
और तेज पैने करो, कविता के औजार।।

सचमुच कविता की सामर्थ्य अद्‌भुत होती है। डॉ० जगदीश गुप्त ने कवि की क्षमता को रेखांकित करते हुए लिखा है—

रुष्ट हो तो जगा दे आक्रोश नभ का
द्रवित हो तो, सृष्टि सारी साथ-साथ बहे।
कवि वही जो अकथनीय कहे।

कविता को परिभाषित करने के कई प्रकार के प्रयास हुए लेकिन यह सवाल 'ईश्वर क्या है' के सवाल की तरह अत्यंत कठिन है। कलकत्ते वरिष्ठ कवि पं० छविनाथ मिश्र ने तो कविता को ईश्वर की सत्ता से भी अधिक महत्ता प्रदान की है। वे कहते हैं—

मेरे दोस्त, मेरे हमदम, तुम्हारी कसम
कविता जब किसी के पक्ष में या किसी के खिलाफ
अपनी पूरी अस्मिता के साथ खड़ी होती है
तब वह ईश्वर से भी बड़ी होती है।

कविता को किसी ने 'आत्मा का संगीत' (वाल्टेयर) कहा तो किसी ने 'सृष्टि का सौन्दर्य' (पुरुषोत्तम दास टंडन) बताया। किसी ने उसे 'मानवता की उच्चतम अनुभूति की अभिव्यक्ति' (हजारीप्रसाद द्विवेदी) माना तो किसी ने उसे 'मानवीय ज्ञान, विचारों, भावों, अनुभूतियों और भाषा की खुशबूदार कली' (कालरिज) के रूप में परिभाषित किया। कुँवर नारायण की पंक्तियाँ हैं—

कविता वक्तव्य नहीं गवाह है
कभी हमारे सामने / कभी हमसे पहले / कभी हमारे बाद
कोई चाहे भी तो रोक नहीं सकता भाषा में उसका बयान
जिसका पूरा मतलब है सच्चाई
जिसकी पूरी कोशिश है बेहतर इन्सान।
उसे कोई हड़बड़ी नहीं कि वह इश्तहारों की तरह चिपके
जुलूसों की तरह निकले / नारों की तरह लगे /
और चुनावों की तरह जीते।/वह आदमी की भाषा में जिंदा रहे बस।।

कविता पीड़ा के समय, दुःख की कठिन घड़ी में हमें सांत्वना देती है। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की पंक्तियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं—

कविता केवल कभी-कभी मुझसे हँसती है,
प्रायः गुमसुम सी रहती अवहेला करती।
पर चीर हृदय को आह निकलती है जब-जब,
चुपचाप स्वयं आ मेरे दुख झेला करती।।

चंद्रसेन विराट के अनुसार—

मेरा कवि मेरे दुख को कुछ ऐसा गाये राम करे।
मेरा रहे न, वह दुनिया का दुख हो जाये राम करे।।

कविवर केदारनाथ अग्रवाल अपनी पराजय, घुटन और वेदना को कविता के माध्यम से ही दूर करते हैं—

दुख ने मुझको जब-जब तोड़ा
मैंने अपने टूटेपन को कविता की ममता से जोड़ा
जहाँ गिरा मैं कविताओं ने मुझे उठाया
हम दोनों ने वहाँ प्रात का सूर्य उगाया।

इसी भाव को अभिव्यक्त करते हैं डॉ० चंद्रदेव सिंह के दो दोहे—

कविता क्या है, भाव का भाषा में अनुवाद।
संवेदन संपन्न कवि, अंतर का अवसाद।।
पीड़ा कवि की प्रेरणा, आँसू ही मधुगान।
वही विरह की बाँसुरी, मीरा की मुस्कान।।

इसी बात को त्रिलोचन यों कहते हैं—

दौड़-दौड़कर असमय समय न आगे आये
वह कविता क्या, जो कोने में बैठ लजाए।

परवर्ती काल के कवियों ने कविता को अलग ढंग से परिभाषित किया। धूमिल ने कविता को 'शब्दों की अदालत में मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का हलफनामा' बताया, तो आलोकधन्वा ने उसे चेतना फैलाने का माध्यम और संघर्ष का हथियार स्वीकार किया—

बर्फ काटनेवाली मशीन से आदमी काटनेवाली मशीन तक
कौंधती हुई, अमानवीय चमक के विरुद्ध
जलते हुए गाँवों के बीच से गुजरती है मेरी कविता

आगे कवि कहता है—

उस नौजवान खान मजदूर से मन में
एक बिल्कुल नयी बन्दूक की तरह
याद आती है मेरी कविता।

कविता की नियति ही है कि वह ध्वंस का विरोध कर, सृजन का समर्थन करती है; नाश को नकार कर, निर्माण को स्वीकृति देती है। कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह का अभिमत है कि कविता संकट के विश्लेषण से आरम्भ होती है और उसके संश्लेषण तक जाती है—

विश्लेषण से संश्लेषण तक पहुँचने का
यह रास्ता मगर, सुगम नहीं होता
और जितना भी दुर्गम होता है
कविता भी उसी हिसाब से
अपना अर्थ विस्तार कर
महान होती है।

राजनीतिक-सामाजिक सन्दर्भों की समझ को गहराई और विस्तार देते हुए सर्वेश्वर कहते हैं— *'अब मैं कवि नहीं रहा / एक काला झंडा हूँ। / तिरपन करोड़ लोगों के बीच मातम में / खड़ी है मेरी कविता।'*

नरेश मेहता ने कविता को अप्रतिहत सत्ता माना है— *'कविता अर्थ नहीं, अनुभव होती है / क्योंकि वह भी सत्ता है / अप्रतिहत अप्रमेय।'*

ध्रुवदेव मिश्र 'पाषाण' का मंतव्य है—

'क्योंकि मैं कवि हूँ/ मेरी नसों में प्रवाहित जीवन-रस उस धरती का है
जिसकी नाभि का अमृत कभी नहीं चुकता।
हर बात कविता नहीं होती / मगर हर कविता एक बात जरूर बन जाती है।'

कविता की महत्ता का द्योतन करने वाली पंक्तियाँ आश्वस्त करती हैं कि इसका भविष्य उज्ज्वल है। तमाम संकटों एवं राजनीतिक हस्तक्षेप के बावजूद कविता का, कला का, संस्कृति का परिन्दा आज भी सक्रिय है। शिव ओम अम्बर के अनुसार—

जला के खाक किया कुल शहर सियासत ने
किसी तरह ये ग़ज़ल का मकान बाकी है।
तुम्हारे हाथ के पत्थर बरस के थम भी गए
लहू-लुहान परिन्दे में जान बाकी है।।

कविता के प्रति रचनाकारों की निष्ठा और ईमानदारी उन्हें संकल्पबद्ध करती

है। 'अंबर' की ही एक चतुष्पदी में यह भाव प्रभावी ढंग से व्यक्त हुआ है—

या बदचलन हवाओं का रुख मोड़ देंगे हम,
या खुद को वाणी-पुत्र कहना छोड़ देंगे हम।
जिस दिन भी हिचकिचायेंगे लिखने में हकीकत,
काग़ज़ को फाड़ देंगे कलम तोड़ देंगे हम।।

यह शिव-संकल्प कविता के भविष्य के प्रति हमें आश्वस्त करता है, परन्तु कवि की अन्य पारिवारिक-सामाजिक विवशताएँ हमें विचलित भी करती हैं। पेश हैं कुछ उद्धरण—

मुन्ने की अम्मा कहती है, कविवर सुनो कहानी।
कविता क्या दहेज में दोगे, बिटिया हुई सयानी।।
शब्दों को जोड़ते-तोड़ते साठ साल की उमर हो गई
कुछ तो पैसे जोड़े होते, धनुही जैसी कमर हो गई
कितने बिंब प्रतीक टटोले किस दुनिया में भूले भोले
दिखी न आँगन में बीवी की साड़ी फटी पुरानी।
कविता क्या दहेज में दोगे बिटिया हुई सयानी।। (छविनाथ मिश्र)

* * * * *

कविता कहेगी / मुझे लिखो।
मैं कहूँगा मुझे करने हैं / बहुत से दूसरे काम।
बाज़ार जाना है, सब्जी लाना है, चिट्ठी लिखनी है–
चश्मा बनवाना है बेटी का
(अरे लग गया उसे इतनी जल्दी चश्मा)।
सोचना है उनके बारे में
जिनके मरने की खबर / छपी है अखबार में। (प्रयाग शुक्ल)

* * * * *

गोस्वामी तुलसीदास के प्रसिद्ध पद 'खेती न किसान को..... ' का स्मरण करते हुए भगवत रावत ने लिखा है—

चोर की चोरी, साहूकारी साहूकार की
दासता दास की औ' अफसर की अफसरी।
बेइमानी बेईमान की, दरिद्रता स्वाभिमानी की,
गरीब की गरीबी और तस्कर की तस्करी।।
दिन-दूनी रात चौगुनी फल-फूल रही,
कमाई कुकरम की और अजगर की अजगरी।

मजे में हैं सब यहाँ बाबा तुलसीदास,
कविताई ससुरी अब कहाँ जाइ का करी।।

भगवत रावत की यह व्यंग्योक्ति समाज की वर्तमान स्थिति के संदर्भ में कवि-कर्म की सार्थकता पर मार्मिक सवाल उठाती है। कविवर गुलाब खण्डेलवाल ने अपनी एक रचना में जीवन की कटु वास्तविकताओं को रेखांकित करते हुए इस प्रश्न को सहज किन्तु प्रभावी ढंग से उठाया है। उनकी पंक्तियाँ हैं—

आप महान हैं कविवर
परन्तु क्या आपने कभी सोचा है
कि आपकी चाह किसे है,
आपके व्यक्तित्व की परवाह किसे है?

* * * * *

इसलिए हे महाकवि
सपने में आप इन्द्र कुबेर या कार्तिकेय कुछ भी बन जायें
चाहे जितने विशेषणों से अपने को सजा लें
आईने के सम्मुख कितने भी तन जायें
यथार्थ के क्षेत्र में आपको धूल ही चाटनी होगी
कमाऊ पुत्रों की उपेक्षा झेलनी होगी
पत्नी की झिड़कियों में आयु काटनी होगी।
भास हो या कालिदास/सबने भोगा है यह संत्रास।
आज की बात नहीं/सदा से यही होता आया है
हर युग का भवभूति अपनी उपेक्षा का रोना रोता आया है।

रचनाकार का पारिवारिक-सामाजिक दायित्व-बोध और व्यवस्था की विसंगतियाँ उसे विचलित भले करें परन्तु साधक की भाँति कवि अपना धर्म निभाने में कोताही नहीं बरतता। कात्यायनी हृदयहीन वातावरण के बीच कविताएँ न लिखकर मानो कविता की हिफाजत करना चाहती हैं। ध्यातव्य हैं उनकी पंक्तियाँ—

कभी-कभी कविताएँ न लिखना
जीवन में कविता की हिफाजत करना होता है।
जैसे कि अभी मैं सोच रही हूँ कि
आनेवाले कुछ वर्षों तक बंद कर दिया जाये कविताएँ लिखना
लोगों की उम्मीदों, भविष्य और लड़ने की जरूरत के बारे में
सीधे-सीधे कुछ बताया जाये।

छँटनी, तालाबंदी और बेरोजगारी के खिलाफ
कुछ आन्दोलन किये जायें/और कुछ जोखिम उठायी जाय।
इस तरह कविता के भविष्य के बारे में
और अधिक आश्वस्त हुआ जाये।

यह सही है कि आधुनिक हिन्दी कविता, विशेषकर नयी कविता का दौर अपनी जटिलता और दुरूहता के कारण एक ओर आम जनता से कटा रहा तो दूसरी ओर अकादमिक माहौल में भी बोझिल बना रहा। राजनीतिक नारेबाजी, सपाट-बयानी, सतहीपन तथा अनगढ़ गद्य के उसके स्वरूप ने भी कविता का अहित ही किया है। कवि नवल लिखते हैं—

जब लिखने के लिए/लिखी जाती है कविता
जब नाम या दाम के लिए/पढ़ी जाती है कविता
जब नारे या हथियार के लिए/रची जाती है कविता
वह कविता नहीं/कविता का स्वांग भर होती है।

परन्तु इसके साथ यह भी सच है कि पिछले ५० वर्षों में हिन्दी कविता को कई तेजस्वी रचनाकारों ने समृद्ध किया है। विष्णु खरे, लीलाधर जगूड़ी, अरुण कमल, एकांत श्रीवास्तव, गगन गिल, निरंजन श्रोत्रिय आदि कई नाम इस संदर्भ में गिनाए जा सकते हैं। प्रतिबद्ध, सपाट, फूहड़ और चुटकुला छाप कविताओं के अंबार के बीच इन कवियों की उत्कृष्ट रचनाएँ, हिन्दी कविता की उज्ज्वल परम्परा को गतिशील रखते हुए भविष्य के प्रति निराश नहीं होने देतीं।

कविता का भविष्य तभी बचेगा जब वर्तमान उसके लिए सम्यक् पीठिका का काम करेगा। आज कविता समाज से दूर होती जा रही है। केवल अकादमिक माहौल में कविता के पठन-पाठन को सीमित रखकर उसका भला नहीं किया जा सकता। उसे जन-जन तक, 'लोक' तक पहुँचाने का काम सबसे जरूरी है। इसके लिए आवश्यक है काव्य की वाचिक परम्परा की समृद्धि, लयात्मक अभिव्यक्ति तथा जनपदीय बोलियों का समावेश। कविता जब गाँव की ओर लौटेगी, छंदों की वापसी होगी, गीतो-लोकगीतों की महत्ता पुनः स्थापित होगी तभी उसका भविष्य भी उज्ज्वल होगा और उसे पाठकीय आश्रय भी प्राप्त होगा। कविता के भविष्य के प्रति आश्वस्त-भाव से यही कहा जा सकता है—

शानदार था अतीत, भविष्य भी महान है।
अगर उसे सँभाल लें, जो आज वर्तमान है।। ●

अंधकार पर लगे विराम, उजियाले को करें प्रणाम

प्रकाश-पर्व दीपावली पर असंख्य दीप प्रज्ज्वलित होते हैं और अमावस्या की काली रात को प्रकाशित करने का शुभ-संकल्प कार्यरूप में परिणत होता है। साथ ही भारतवासियों का यह सबसे बड़ा त्यौहार अपनी दीप्ति और आभा से सबको मुग्ध करता हुआ ऐसा आनन्द और उल्लास बिखेरता है जिसकी अनुगूँज कई दिनों तक हमारे मन-मस्तिष्क पर छाई रहती है।

हमारे त्यौहारों का यह वैशिष्ट्य ही है कि वे अपने भीतर गहरी अर्थवत्ता समेटे रहते हैं। दो बड़े त्यौहारों— होली और दीपावली की ही चर्चा करें तो होली अपने रंग-ढंग से हर खासो-आम को एक धरातल पर लाकर खुशियों के आदान-प्रदान का अवसर प्रदान करती है तो दीपावली का त्यौहार सुख-समृद्धि-शांति हेतु पूरी शक्ति के साथ कर्मरत होने की प्रेरणा देता है। उल्लास और उमंग का उन्मेष दोनों का मूल है। दोनों ही त्यौहार तन-मन-भवन की मैल को दूर करने का उपक्रम करते हैं। दोनों में प्रेम-भावना और कल्याण-कामना की उपस्थिति है। इन पर्वों के माध्यम से भारतीय संस्कृति के आर्ष वाक्यों 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः.....' का संदेश ही प्रचारित होता है। गीतकार वल्लभेश दिवाकर की दो पंक्तियाँ हैं—

'एक हाथ में दीपक लेकर एक हाथ में आरती
अंतर में ले प्यार विश्व का, बोलो जय-जय भारती'

दीपावली का महापर्व 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' मंत्र की वास्तविक परिणति ही है। अमावस की गहन कालिमा में प्रकाश की स्तुति हमें यह संदेश देती है कि—

'अंधकार की ओर नहीं, तुम बढ़ो ज्योति की ओर'

हमारी संस्कृति की यह अद्‌भुत विशेषता है कि इस कामना की पूर्ति हेतु हमारी परम्परा ने हमें सबके लिए सहज सुलभ माटी के दीप का प्रतीक प्रदान किया है। ज्योति-अर्चन के इस त्यौहार को वैभव-प्रदर्शन ने भले ही आम आदमी की पहुँच से दूर कर दिया हो परन्तु सच्चाई यह है कि मिट्‌टी के लघु दीपक का घनघोर अँधेरे के बीच जलना, यह जता देता है कि हम जड़ता, अज्ञान और अंधकार के खिलाफ़ खड़े रहेंगे और अपनी शक्ति भर उसके साम्राज्य को सफल नहीं होने देंगे।

याद आ रहा है कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का वह दीपक जो डूबते सूरज के आह्वान पर अंधकार के विरुद्ध लड़ने के लिए संकल्पबद्ध होता है । बांग्ला में गुरुदेव की मूल पंक्तियों का हिन्दी अनुवाद आचार्य विष्णुकांत शास्त्री के शब्दों में–

सांध्य रवि बोला कि लेगा काम अब यह कौन।
सुन निरुत्तर छविलिखित सा रह गया जग मौन।।
मृत्तिका का दीप बोला तब झुका कर माथ।
शक्ति मुझमें है जहाँ तक मैं करूँगा नाथ।।

छोटे से मिट्टी के दीपक का सूर्य के आह्वान पर दिया गया जवाब सचमुच प्रेरक है। वह कहता है कि 'हे प्रकाश के स्वामी! मुझमें आप जैसी शक्ति तो नहीं है परन्तु जितनी शक्ति है उतनी शक्ति के साथ मैं सूर्यास्त के बाद अँधेरे से लड़ता रहूँगा।'

आज समाज में अँधेरा विविध रूपों में पूरी शक्तिमत्ता के साथ व्याप्त है। अज्ञान, असत्य, अपराध, अनाचार, अपसंस्कृति, आतंक, आसुरी वृत्ति आदि इसके विविध रूप हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि इन सबकी अनवरत वृद्धि देश और समाज को जर्जर कर रही है। अंधकार का प्रश्रय पाकर ये वृत्तियाँ निशाचर रावण सदृश होकर मर्यादा रूपी सीता का हरण कर रही हैं। दीपावली का दीप उनसे लड़ने में समर्थ होगा, यह उम्मीद है कवि बशीर अहमद मयूख की–

असत् के आसुरी रावण ने लक्ष्मण-रेखा लाँघी है,
कि मर्यादा की सीता को समय ने फिर चुराया है।
हमें संघर्ष करना है तिमिर के हर दशानन से,
दिवाली का दिया जलकर यही संदेश लाया है ।

हम सबको दीप-अर्चन में प्रवृत्त करता है प्रज्ज्वलित दीपक का यह संदेश, कि दानवता पृथ्वी पर नहीं टिकेगी, मानवता की प्रतिष्ठा और विजय अवश्यंभावी है। कवियों - साहित्यकारों ने अलग-अलग ढंग से दीपक के इस प्रतीक की व्याख्या की है। उल्लास के इस पर्व पर हम देश के लिए सब कुछ निछावर करने वाले बलिदानियों एवं शहीदों को विस्मृत न कर बैठें– इसका आह्वान करते हुए डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी ने सच्ची और सार्थक दीपावली मनाने का सूत्र प्रदान कर इस पर्व को राष्ट्रभक्ति के प्रसंग से जोड़ दिया है। उनकी पंक्तियाँ हैं :

जिन्होंने स्नेह-शोणित से अँधेरे को मिटाया है,
जलाकर प्राण की बाती जहाँ को पथ दिखाया है।
कहीं कोई गली, घाटी, न पगडण्डी अँधेरी हो,
सभी को ज्योति देने हित स्वयं का घर जलाया है।।

उन्हीं के नाम पर यदि एक भी दीपक जलाते हैं,
उन्हीं का नाम लेकर हम स्वयं बन दीप जाते हैं।
तभी सच्ची दिवाली है, यही सच्ची दिवाली है
नहीं तो मात्र परिपाटी, दिवाली की निभाते हैं।।

आनंद के इस पर्व की सार्थकता तभी है जब धरती से वैषम्य एवं विषाद मिट जाये, दीपक की ज्योति की लालिमा की भाँति सभी का जीवन प्रदीप्त हो। कविवर शिव मंगल सिंह 'सुमन' की यह उत्कंठा इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है:

कभी हमारी भी धरती पर सुख-समता के फूल खिलेंगे
गली-गली जगमगा उठेगी, स्नेह भरे दीपक छलकेंगे
नयनों की पुतली में झलकेगी प्रकाश की लाली-
फिर आ गई दिवाली।

गीतकार रमानाथ अवस्थी इसी भाव को अपने एक गीत की इन पंक्तियों में मार्मिक ढंग से व्यक्त करते हैं—

धरती के ऊपर आकाश के तले
प्रतिपल निष्कम्प प्यार का दिया जले
आओ हम कल्पना करें–आओ हम वंदना करें।

यह कल्पना तभी साकार होगी जब धरती पर धर्म का दया का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होगा। ऐसा होने पर ही दग्ध-शुष्क धरती सरस होगी। राष्ट्रकवि दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में व्यग्र भाव से सवाल किया है—

धर्म का दीपक, दया का दीप; कब जलेगा कब जलेगा विश्व में भगवान।
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त हो सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण।।

महादेवी वर्मा उस अकेले दीपक की सामर्थ्य की प्रशंसा करती हैं जिसके बल पर वह काल की कठिन चुनौती को झेलने के लिए जूझ पड़ता है :

काल की उच्छल तरंगों में चला दीपक अकेला।
कौन सी तम की चुनौती है, जिसे इसने न झेला।।

अज्ञेय ने 'दीप अकेला' कविता में पंक्तिबद्ध दीपकों की परिकल्पना को साकार रूप प्रदान किया है। एक दीप से असंख्य दीप प्रज्ज्वलित हों—व्यक्ति केवल आत्मकेन्द्रित न हो, समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का बोध उसे हो, यही मूल भावना है अज्ञेय की इस पंक्ति की –

यह दीप अकेला, स्नेह भरा है गर्व भरा, मदमाता/पर इसको भी पंक्ति को दे दो।

तात्पर्य है कि व्यक्ति स्वयं क्षमता संपन्न भले ही हो परन्तु उसकी सार्थकता

समाज मंगल के लिए अपनी शक्ति अर्पित कर देने में है। एक दीपक असंख्य दीपों को जलाए यह उसकी परिपूर्णता है और तभी समाज का गहन तम भी मिटेगा। यानी दीपावली का उल्लास केवल कुछ घरों तक सिमट कर न रह जाय—घर-घर उसका आनंद फैले; केवल अमीरों का महल ही न जगमगाए, गरीबों की झोपड़ी में भी रोशनी व्याप्त हो। लक्ष्मी शंकर वाजपेयी की इच्छा है—

रोशन हो हर मकान, दिवाली की रात है,
हो खूब धूम-धाम, दिवाली की रात है।
लिख दो जरा सी रोशनी अपने मकान की,
उस झोपड़ी के नाम दिवाली की रात है।

कवयित्री प्रभा ठाकुर इसे यों कहती हैं— *उनको भी तो मिले रोशनी, जिनके हिस्से में बस शाम।* तभी तो उनकी कामना है – *अंधकार पर लगे विराम, उजियाले को करें प्रणाम।*

कवि साहित्यकार और कलाकार का उद्देश्य ही होता है अनास्था के अँधेरे में आस्था और विश्वास की ज्योति प्रज्ज्वलित करना। कवि निराला ने भी देवी सरस्वती से अज्ञान का, कलुष का अंधकार दूरकर ज्ञान का प्रकाश विकीर्ण करने की प्रार्थना की है। चर्चित पंक्तियाँ हैं— *कलुष भेद, तम हर, प्रकाश भर, जगमग जग कर दे।*

देवी की कृपा से ज्ञान की दीप्ति सारे संसार को आलोकित करे—यह कामना दृष्टि की व्यापकता को संकेतित करती है। वास्तव में रचनाकार का उद्देश्य ही होता है अपनी सृजन ज्योति से सारी दुनिया को प्रकाशित करना। बशीर अहमद मयूख फिर याद आ रहे हैं—

रोशनी की किरण आँख में आँज ली, चंद सपने बुने फिर उन्हें जी लिया
जब अँधेरे ने भीतर से हमला किया, चाँदनी को चषक में भरा पी लिया।
स्वर समर्पित शिवं सुंदरं को रहा प्राण समिधा बने हैं हवन के लिए
हम उचरते रहे तमसो मा ज्योतिमय, एक ज्योतिर्जगत के सृजन के लिए।

दीपावली का उत्सव मनाने की तमाम कथाओं एवं किंवदंतियों के बीच यदि हम दीप-अर्चन की इस महिमा को समझ सकेंगे, तभी राष्ट्र एवं समाज का मंगल होगा और हम सब दीपक की ज्योति को प्रणाम करते हुए यह दोहरा सकेंगे :

शुभं करोति कल्याणं, आरोग्यं धन-सम्पदा।
शत्रु बुद्धि विनाशाय, दीप ज्योतिर्नमोस्तुते।। ●

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

जन्म : नवंबर १९५४, कोलकाता में।

मूल निवासी : राजापुर गढ़ेवा (मगरायर)उन्नाव, उ.प्र.

शिक्षा : एम०ए० (हिन्दी) स्वर्णपदक प्राप्त एवं पी-एच० डी० (कलकत्ता विश्वविद्यालय)

वृत्ति : सुरेन्द्रनाथ सांध्य कॉलेज, कोलकाता के हिन्दी विभाग में वरिष्ठ रीडर और विभागाध्यक्ष। प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कोलकाता के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग में अतिथि प्राध्यापक।

कृतियाँ : *मौलिक :*

- हिन्दी उपन्यास और अमृतलाल नागर
- विचार-विविधा
- बहुआयामी निराला (शीघ्र प्रकाश्य)

कृतियाँ : *संपादित :*

- शास्त्वैरपि शरैरपि : आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री
- महाप्राण निराला : पुनर्मूल्यांकन
- मानस अनुक्रमणिका (श्रीरामचरितमानस की पंक्तियों का अकारादि क्रमानुसार संदर्भ कोश)
- जीवन पथ पर चलते-चलते (आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की कविताओं का संग्रह)
- कबीर अनुशीलन
- विष्णुकान्त शास्त्री अमृत महोत्सव अभिनन्दन ग्रंथ

अन्य :

- वर्द्धमान विश्वविद्यालय में अंशकालीन प्राध्यापक के रूप में कई वर्षों तक अध्यापन।
- 'कलकत्ता टाइम्स' (साप्ताहिक) और 'नाट्य वार्ता' (मासिक) के सम्पादक तथा उप-संपादक के रूप में अरसे तक कार्य।
- श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता के अध्यक्ष।

सम्मान :

- उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सम्मान (१९९८ ई०)
- भारती परिषद, उन्नाव (उ०प्र०) का प्रो० वासुदेव सिंह स्मृति सम्मान (१९९९ ई०)
- मानस संगम (कानपुर) का मानस संगम सम्मान (२००० ई०)
- रोटरी क्लब (उन्नाव) का महाप्राण निराला स्मृति सम्मान (२००३ ई०)

सम्पर्क :

आशीर्वाद अपार्टमेण्ट्स
सी ए ५/१०, देशबन्धु नगर, बागुईहाटी
कोलकाता-७०० ०५९
दूरभाष: (०३३) २५७६-१५२२

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता